आवारागर्द

जो आवारागर्द नहीं, उन्हें आवारागर्दी के मजे कैसे समझाए जाएँ। लोग सभ्य हैं, इज्जत-आबरू-वाले हैं, उनकी समाज में पद मर्यादा है, बहुत लोग उन्हें जानते हैं, वे यदि आवारागर्दी के चक्कर में पड़े, तो बस, सब खत्म। उनका रुआब उठ जाय, प्रतिष्ठा धूल में मिल जाय, और देखनेवालों की नजर से वे गिर जायं।

परन्तु मेरी बात ही निराली है। वह निरालापन आवारागर्दी में ही आ जाता है। बात यह है, न मेरी समाज में कोई इज्जत है न कोई मेरा मुलाक़ाती दोस्त है, न कहीं मेरा घर-बार, जमीन-जायदाद है, न नौकरी, न लीडरी। न मैं कवि, न संपादक। मैं महज़ आवारागर्द हूँ जिधर मुंह उठा, चल दिया; जहाँ भूख लगी, खा लिया; जहाँ थक गया, सो गया; जो चीज़ चाही, माँगली, मौका मिला, चुराली, ग़रज़ जैसे बने, जीवन की गाड़ी चलाए

जाना, दुःख शोक, चिंता और निराशा को पास न फटकने देना मेरी आवारागर्दी का ख़ास रूप है, औरों की और जानें।

मन में जो सनक समाई, तो काश्मीर जा पहुँचा। कैसे? यह आप सभ्य पुरुष न समझ पाएंगे। फिर भी संक्षेप में सुनिए—रेल में पूरा सफ़र किया बिना टिकिट। अक्सर टिकिट-चेकर को चकमे दिए--कभी पखाने में घुसकर और कभी दूसरी ओर आँख बचाकर, कूदकर। कभी पकड़े भी गए,तो हँस दिये, जेबें उलटकर दिखा दीं। किसी ने गालियां देकर छोड़ दिया, किसी ने गर्दनिया देकर उतार दिया, किसी ने पुलिस के हवाले किया। मैं जानता हूँ, दुनियां में पद-पद पर विघ्न आते हैं, पर धुन के पक्के लोगों के सामने वे ठहर नहीं पाते। मेरे सामने भी ये विघ्न न ठहर सके। सिर्फ़ इतना हुआ, दो-चार दिन देर करके पिंडी जा उतरा। आधी मंज़िल फ़तह हो गई। वहाँ से चला पैदल। रास्ते-भर चट्टियों पर दूध, दही, पूरी और चाय-पानी का सामान बिक रहा था, पर अपने पास तो पैसा नहीं था। जब किसी भारी-भर-कम को खाते देखता, सामने जाकर मुस्करा देता, और वह मुझे प्रायः खिलापिला देता। कभी गाकर, कभी हाथ देखकर पैसे बनाए। एक-दो बार बोझा भी ढोया, और सिर्फ़ एक बार चोरी की। आधा रास्ता पार हो गया।

एक दूकान पर बैठा गर्मागर्म पूरी-तरकारी उड़ा रहा था। सात पैसे जेब में थे, उनमें से छः पैसे की पूरी और सातवें का पान खा डालने का इरादा था। एक आदमी घबरा कर आया, और दूकानदार से पूछने लगा—"क्या पास में कोई दवा-दारू की दूकान है? हमारे सेठ खड्ड में गिर गए हैं, हड्डी-पसली चूर-चूर हो गई है। पास में कोई डाक्टर हो, तो फ़ीस चाहे जो देनी पड़े, उसे बुलवा दीजिए।"

आदमी नवयुवक था। टूटी-फूटी हिंदी बोल रहा था। मैंने

धीरे से दूकानदार से कहा "कहीं इस गधे से यह मत बता देना कि हम डॉक्टर हैं, नाहक़ हमें अटकना पड़ेगा। आए हैं तफ़रीह को, और बला सिर पड़ेगी। अरे भाई, नाक में दम है इन मरीज़ों के मारे, कमबख्त यहाँ भी दम नहीं लेने देते।"

दूकानदार ने क्षण-भर ग़ौर से देखा, और यथा संभव आदर प्रदर्शन करके कहा—"डॉक्टर साहब, अब इस मुसीबत में तो इस बेचारे की मदद कर ही दीजिए।" फिर उसने ज़ोर से युवक से कहा—"भाग्य की बात समझो कि डॉक्टर सामने बैठे हैं।"

युवक एकदम पास आकर मिन्नतें करने लगा। मैंने कहा—"तो बुखार की तरह सिर पर क्यों चढ़े आते हो? बाबा, खा तो लेने दो, घबराओ मत; जाओ, कह दो—'डॉक्टर साहब आते हैं।' चुटकी बजाते सब ठीक हो जायगा।"

तसल्ली पाकर युवक दौड़ गया। मैं सोचने लगा—अब डॉक्टरी धज बनाई जाय तो कैसे? मैला, फटा कोट, धूल-भरे पैर, दवा न दारू, और डॉक्टरी तो सात पीढ़ी ने न की थी। कॉलेज में जब पढ़ते थे, स्काउटिंग में नाम लिखा लिया था, पास में काम की चीज सिर्फ एक वेसलीन की शीशी थी, मैंने उसी से तमाम मतलब हल करने की ठान ली,

जाकर देखा, कुछ चोट-ओट नहीं आई थी—न घाव हुआ न हड्डी टूटी, यों ही जरा खाल छिल गई थी, जितनीगंभीरता धारण की जा सकती थी, धारण करके मरीज देखा—कपड़ा मँगाकर पट्टियाँ बनाई, और जरा-सी वेसलीन चुपड़कर लपेट दी, बाद में डॉक्टरी धज से साबुन से हाथ धोकर चल देने की ठानी, इतमीनान हुआ कि ५ रुपए अभी जेब में खनखना उठेंगे, श्रीनगर तक का चाय-पानी हो जायगा।

परंतु सेठ कोई गुजराती गावदी था। हाथ जोड़कर बोला—

"बैठ जाइए, डाक्टर साहब, अब आप जा नहीं पावेंगे। आपको साथ चलना होगा। आपके आराम की पूरी व्यवस्था हो जायगी।

जै गंगा। थोड़ा नखरा करके मैं राजी होगया। सवारी, कपड़े, चाय, टोस्ट, मक्खन, खाना, सब जुट गए। काश्मीर में मजे की कटने लगी।

२

एक दिन संध्या-समय एक सकरी गली के सामने झूमता हुआ जा रहा था। क्यों? यह आप समझ जाइए। बदनाम मुहल्ला था, कभी-कभी उधर से यों ही घूम आया करता था। थोड़ी तबियत में गुदगुदी ही पैदा हो जाती थी। यहां और तो सब मौज-बहार थी, पर नक़द नारायण जेब में न था, सेठ से कभी मांगा नहीं। और तिकड़म सब छोड़ दी थी। इसी से सिर्फ उधर घूमना मात्र ही हो जाता था, और कुछ नहीं।

हाँ, तो मैं एक सकरी गली के सामने झूमता हुआ जा रहा था। संध्या के धुँधले प्रकाश में देखा—एक पुराने, छोटे-से मकान की दहलीज पर एक श्वेत-बसना स्त्री खड़ी एक बाबू से बातें कर रही है। अंधेरे में ठीक-ठीक उसकी आयु और सुन्दरता नहीं भांपी जा सकी। परन्तु ज्यों ही मेरी दृष्टि उस पर पड़ी, बाबू ने उस से कहा—"नमस्ते" और उसने भी हाथ जोड़ कर नमस्ते कहा। बाबू चल दिए। मगर उस स्त्री ने जो नमस्ते शब्द कहा, उसकी झंकार ने मेरे शरीर में रोमांच कर कर दिया, कुछ विचित्र मधुर स्वर था, फिर मैंने सोचा—इस बदनाम, गंदी गली में 'यह शुद्ध नमस्ते' कैसा?

मैंने मुँह उठा कर देखा— वह घर के भीतर लौट रही थी, मैंने साहस किया—एक कदम आगे बढ़कर कहा—"नमस्ते"

वह लौटी, और आश्चर्य-चकित मेरी ओर उस अँधेरे में देखने लगी। मैंने और निकट जाकर कहा—"आपने पहचाना

नहीं—मैं डाक्टर हूँ।" मैंने ढेला फेंका।

उसने भुनभुनाकर होंठों ही में कहा—'डाक्टर'! फिर उसने सिर का पल्ला ठीक किया, हाथ जोड़कर उसी मधुर स्वर से नमस्ते किया, और उससे भी अधिक मीठे स्वर में कहा—"आइए, भीतर आइए डाक्टर साहब!"

और, फिर हम एकदम मकान के भीतर। दरवाज़े की कुंडी बंद कर दी गई। घर छोटा और साधारण था, पर साफ़ और सुरुचि-पूर्ण। कमरे में एक शतरञ्जी बिछी थी—कोने में पलँग था। दीवार से लगा एक लैंप टिमटिमा रहा था। शतरञ्जी पर बैठूं या पलँग पर, यह निर्णय नहीं कर सका। उस पीली, धुँधली रोशनी में मैंने फिर उसकी ओर देखा—एक दुबली-पतली, सुन्दर, छरहरी युवती थी। उम्र बीस से ऊपर होगी। बरबादी और वेदना की छाप उसकी आँखों और होठों पर थी।

उसने आगे बढ़कर, पलँग की ओर इशारा करके कहा—"बैठिए।" सिर से टोपी उतारकर खूंटी पर टाँग दी, बेत हाथ से लेकर एक कोने में रख दिया। फिर कहा "कोट उतारकर इतमीनान से बैठिए। इस वक्त कुछ गर्मी है, और आप बाहर से आए हैं। ठहरिए, खिड़की खोले देती हूँ। आप इतमीनान से बैठिए।"

मैं क़ोट उतारकर इतमीनान से बैठ गया। उसने खिड़कियाँ खोलीं, लैंप ज़रा तेज़ किया, दो अगर-बत्तियाँ जलाईं, और चुप-चाप पैरों के पास फ़र्श पर बैठ गई।

अभी दो मिनट भी न बीते थे कि ऐसा मालूम हुआ कि आवारागर्दी खत्म हो गई। मानो चिरकाल बाद शरीर और मन थकाकर अब घर लौटा हूँ, हालाँकि पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक मेरा कहीं घर था ही नहीं।

मेरा मुंह बंद था। सोच रहा था, कौन है यह दुखिया,

सुशीला स्त्री। इतनी मधुर, इतनी स्त्री-गुणों से विभूषित। परन्तु क्या उससे पूछूं कि तुम कौन हो? इतनी आत्मीयता से परिपूर्ण स्वागत पाने पर भी। मैं चुप ही रहा। कभी उसे, कभी घर को घूर-घूरकर देखता रहा। उसने कहा—"चश्मा क्या हर वक्त लगाते हो—! क्या रात में बुरा नहीं मालूम होता?" उसने हाथ बढ़ाकर चश्मा आँखों से उतार लिया। ग़ौर से आँखों को देखा—हथेली से आँखें दबाईं। ओह! कितनी कोमल थीं वह हथेली।

मैंने दोनों हाथों से उसका हाथ थामकर कहा—"खूब मिलीं दोस्त।"

"तो क्या आप मुझे ढूंढ रहे थे?"

"अजी तीन दिन से।" मैंने अटकल-पच्चू कहा।

"आपको यह मालूम कैसे हुआ कि मैं आ गई हूँ।"

मैंने शान से कहा—"वाह, यह भी कोई बात है, आप यहाँ आवें, और मुझे न मालूम हो!"

वह ग़ौर से देखने लगी। शायद यह भाँपने के लिये कि यह इतनी आत्मीयता से बातें करनेवाला है कौन, और मैं उसके मनोभाव समझकर मुस्कराने लगा।

एकाएक मैंने कहा—"वहाँ फ़र्श पर क्यों बैठी हो, यहाँ बैठो।" मैंने हाथ पकड़कर खींचा। उसने मेरे घुटनों पर सिर रखकर वेदना से टूटे स्वर में कहा—"तुमने सुना तो होगा, साहब अब नहीं रहे। एक महीना हुआ, हार्ट फ़ेल हो गया। मरने से दो-चार दिन पहले तो चिट्ठी आई थी—पढ़ो तो, देखो, क्या लिखा है।"

वह लपक कर उठी, एक पुलिंदा बहुत-सी चिट्ठियों का रूमाल में बंधा था, उठाकर खोला—एक खत निकालकर पढ़ा—"मेरी

परम प्यारी, प्राणों की दुलारी·····" फिर कहा—"आप खुद पढ़िये"

मैंने आगे पढ़ना शुरू किया—"तुम राजी-खुशी काश्मीर..." उसने बाधा देकर पत्र को दोनों हाथों से ढांप लिया, और ऊपर की पंक्ति पर मेरी उंगली रखकर कहा—"यहां से पढ़िये"

मैंने पढ़ा—"मेरी परम प्यारी, प्राणों की दुलारी!" उसने मेरे साथ प्रत्येक अक्षर को दुहराया, उसकी आँखों से आँसुओं की धार बह चली, और वह फिर मेरे घुटनों पर सिर रख कर सिसकने लगी,

मैं घपले में, पड़ गया, सच कहूँ, मैं इतना द्रवीभूत होगया कि उसकी पीठ और सिर पर हाथ फेरने लगा, कुछ देर बाद मैंने कहा—"लाओ, चिट्ठी पढ़ूं तो!" उसने चिट्ठी मोड़कर कहा—"मत पढ़ो—मत पढ़ो—मैं सुन नहीं सकती, जिन्होंने लिखी थी, वह अब नहीं हैं, उन्होंने इतने खत लिखे हैं, गिनकर देखो, कितनें हैं, पर अब नहीं लिखेंगे, उसने ऊपर मुंह उठाया—टपाटप आँसू गिर रहे थे, होंठ काँप रहे थे, उसने घुटनों के बल उकसकर अपने को मेरी गोद में डाल दिया,

उस सुखद अनुभूति का कैसे वर्णन करूँ, उसके केश-गुच्छ में खोंसे हुए फूल की सुगंध से, उसके प्रेमी हृदय के हाहाकार से, उसके कोमल गात्र के आलिंगन से जैसे मैं अपने ही में मूर्च्छित होगया। मैंने सोचा—क्या यह मुझे अपना कोई पूर्वपरिचित समझती है, या इसे होश-हवास ही नहीं, मैंने भी तो अपनी बातों से उसे खूब मुगालते में डाला, खत में मैंने उसका नाम पढ़ लिया था—रुक्मिणी।

मैंने आर्द्र स्वर से कहा—"रुक्मिणी, इतना रंज न करो, जो चला गया, उस पर सब्र करो, और जो मिल गया, उसके लिये ईश्वर को धन्यवाद दो।"

1452

मैंने एक वासना से ललचाई दृष्टि उसके शोक-कातर मुख पर डाली। उसने आँसू पोंछ डाले। चुपचाप चिट्ठियाँ इकट्ठी करके गाँठ बाँधी, और फिर उठकर दूसरे कमरे में चली गई। क्षण-भर बाद आकर फिर बोली "कुछ पियोगे?"

मैंने वास्तविक अर्थ न समझ कर कहा "नहीं, प्यास नहीं है।"

उसने क्षण-भर ठहर कर कहा "कुछ पीते हो या नहीं?"

मैं अब समझा, और कहा "नहीं कभी नहीं पीता।"

उसने और निकट आकर कहा "खर्च नहीं करना होगा, घर में है। लाऊँ—थोड़ी पियो।"

इतनी देर बाद मुझे स्मरण आया कि यहाँ जो मैं बेफ़िक्री से पलँग पर बैठा शाही ठाठ से बातें कर रहा हूँ, सो गाँठ में तो फूटा पैसा भी नहीं। अब यहाँ से बिना कुछ दिए जाना कितना ज़लील काम होगा। यह सोचते ही मैं एकदम उठ खड़ा हुआ, और कहा—"अच्छा, अब चला, फिर कभी आऊँगा।"

उसने मृदुल स्वर में कहा—"यही हाल उनका था। कभी नहीं पीते थे, पीने को कहती थी, तो उठ कर चल देते थे। अच्छा, मत पियो, मगर जाओ मत। नाराज़ मत हो।" और वह एकदम आगे बढ़ कर मेरे ऊपर गिर पड़ी, जैसे बहुत-सी फूल-मालाएँ किसी ने ऊपर फेंक दी हों। और, मैंने आत्मविस्मृत होकर उसे कसकर छाती से लगा लिया। मैंने तन-मन से द्रवित होकर कहा—"इतना दर्द, इतना दुःख, इतना प्रेम लिए तुम इस गंदे घर में बैठी हो सजनी!", और फिर मैंने उसके अनगिनत चुम्बन ले डाले। शिथिल-गात होकर मैं पलँग पर पड़ रहा। उसने धीरे से मेरे बाहु-पाश से पृथक् होकर कहा—"नाराज़ मत होना— तुम इजाज़त दो, तो मैं ज़रा-सी पीलूँ। न पिऊँगी, तो तुम से बात भी न कर सकूँगी।

मैंने कहा—"पियो मैं नाराज़ नहीं हूँ।"

पीकर जब वह आई, तो मुस्करा रही थी, आवाज़ करारी थी, शरीर में फुर्ती थी। उसने कहा— "बीड़ियाँ तो हैं, क्या सिगरेट मँगाऊँ?"

"कैसे कहूँ कि मँगाओ।" मेरे पास तो पैसे न थे। मैंने कहा—"मगर मैं तो पीता-खाता नहीं।"

"इसका मतलब यह कि एकदम संत हो गए हो।" उसने लड़के को आवाज़ देकर बुलाया। एक रुपया उसे देकर कहा—"क़ैंची की सिगरेट एक पैकेट, माचिस और पान ले आ।" मैं चुपचाप देखता रहा।

धीरे-धीरे जैसे मैं जगत् को भूल गया, अपने को भूल गया, रात को भूल गया, दिन को भूल गया। अपने को मैंने चुपचाप पलँग पर डाल दिया—शिथिल-गात और मूर्छित मन।

उसने सिगरेट निकाल कर मेरे होंठों में लगा दी, और फिर जला दी। धीरे से सिर ऊँचा करके एक छोटा-सा तकिया नीचे रख दिया। दो पान के बीड़े मुँह में रख दिए। उसने फिर अगर-बत्तियाँ कमरे में जलाईं। चारों तरफ़ देखा, मेरे आराम के लिये जो कुछ किया जा सकता है, वह उसने सब कर दिया या नहीं। फिर वह कमरे के बाहर गई। मैं समझ गया, वह पीने गई है, अपना दर्द दूर करने के लिये। क्षण-भर बाद वह आई, और मेरे पैरों को गोद में लेकर बैठ गई। उसकी कोमल हथेलियों का सुखद स्पर्श प्राणों को हरा करने लगा। मैं चुप था—वह भी चुप थी—लैंप धीरे-धीरे टिमटिमा रहा था। रात का सन्नाटा बढ़ रहा। ऐसा प्रतीत होता था, अन्धकार से व्याप्त इस भूमण्डल पर केवल वह छोटा-सा घर ही आलोक की रेखा बखेर रहा है। और, नक्षत्र-लोक में केवल दो प्राणी ही जीवित हैं, मैं और वह। और, हम दोनों अटूट सुख-सागर में डूब गए हैं।

मैं तो पहले ही अपनी आवारागर्दी की बात कह चुका हूँ। कहने को एक ही बात रह गई थी, वह यह कि स्त्री से यथार्थ परिचय जीवन में नहीं हुआ था। और, अब मैं सोच भी न सकता था कि स्त्री क्या है, उसका मूल्य क्या है।

एकाएक मैं जैसे चौंक उठा। मैंने कहा "अब जाऊँगा मैं।"

उसने जैसे भयभीत होकर नेत्रों में कहा "कहाँ ? क्यों ?"

मैंने कहा "मैंने अभी खाना भी नहीं खाया है, माहराज बाट तकता होगा।"

"आह! तब तुमने कहा क्यों नहीं। खाना मैं मंगवाती हूँ।" और, लाख मना करने भी उसने खाना मँगवाया। मेरे सामने थाल रखकर वह पंखा ले बैठी। मैंने "यह नहीं, तुम्हें खाना होगा मेरे साथ।"

उसने कहा "तो पियो फिर तुम भी।" उसके नेत्रों में एक गहरी वेदना थी। मैंने सहमति दी, और जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। कौन उसे सोच सकता है। एक आवारागर्द के जीवन का दूसरा अध्याय—लोग जिसे सुहागरात कहते हैं। सचमुच वही।

और प्रातःकाल—जब आँखों में शराब और नींद की खुमारी बढ़ रही थी, पैर लड़खड़ा रहे थे, शरीर झूम रहा था। अभी अंधेरा था, उसने मुझे चूमा, कोट मेरे कंधों पर डाला। दोनों हाथों में हाथ लेकर हंसी, और फिर कहा "नमस्ते।"

इतना तो मुझे होश था कि मैं खाली, बिना कुछ दिए, जा रहा हूँ। मैं लाज से मरा जा रहा था, पर मैंने कुछ कहा नहीं। दो क़दम आगे बढ़ाए। वह हाथ में हाथ दिए साथ थी। उसने कान में होंठ लगाकर कहा "कल जल्द आना।"

और, फिर उसने द्वार पर आकर एक बार नमस्ते किया। वह हँसी, उसका पीला और सूखा चेहरा, वेदना-पूर्ण, गहन आँखें,

उस हँसी की आभा से जैसे दिप गईं।
मैं बोला नहीं, बोल सका नहीं, उसी भाँति लड़खड़ाता हुआ—ऊषा से अलोकित एकांत सड़क पर लुढ़कता चला—जैसे स्वप्न में चल रहा होऊँ। ओह, कैसी अभूतपूर्व, सुखद रात रही वह।

[३]

दो मास ऐसे बीत गए, जैसे खेल हो गया हो। हाँ, मैंने एक पैसा भी नहीं दिया। उस नारी के हृदय का मैंने संपूर्ण अध्ययन कर डाला। उसके प्रियतम के संपूर्ण खत पढ़ डाले। वह भी डॉक्टर था, मेरे-जैसा अवारागर्द नहीं, प्रतिष्ठित सिविल सर्जन। उसके बीवी थी, बच्चे थे, उसने इस प्रेम लतिका को पत्नी की ही भाँति घर में रक्खा था। वह उसकी पत्नी के साथ खाती, सोती, रहती और पत्नी ही समझी जाती थी। उसने मुझसे एक-एक दिन की बातें कहीं। अपने छः वर्ष के स्वप्न-सुख के मधुर संस्मरण कहती हुई वह हँसी, रोई और नाची, उन्माद में आवेशित होकर।

मैं दिन-भर अपने सेठ के यहां रहता—कहना चाहिए सोता, और संध्या होते ही झूमता हुआ वहाँ आता, जहाँ सुखद सेज, गर्म खाना, उन्मादक मद्य, मृदुल नारी एक साथ ही उपस्थित थी—सब झंझटों और खटपटों से रहित। एक यंत्र की भाँति मैं उस सुख-सागर में डूब जाता। खाता-पीता, सिगरेट पीता, और कहने न कहने योग्य क्या-क्या करता न करता।

दिन बीतते गये, और एक बोझ मेरे हृदय पर लदता गया। मैंने उसे कभी कुछ नहीं दिया। अभागिनी, असहाय नारी मुझे कहाँ से खिलाती-पिलाती है? कुछ देना तो होगा ही। परंतु कहाँ से? मैं जानता था, मेरा साथी सेठ कहाँ रुपए-पैसे रखता है। मैं सेठानी के जेवरों के रखने की जगह भी जानता था। सब मेरा विश्वास करते थे। मेरी रात की ग़ैरहाजरी भी

सबको सह गई थी। कोई मेरे राज को जानता न था। अंत में मैंने संकल्प किया---किसी तरह यह सब रुपया चुराकर उसे दे आऊँ। संकल्प दृढ़ होता गया, और मैं अवसर की ताक में लगा। अंततः एक दिन मुझे सफलता मिली। सब जेवर और रुपया लेकर मैं उसी भाँति झूमता-झामता चिर-परिचित मार्ग पर संध्या के धूमिल प्रकाश में आगे बढ़ रहा था। वह सब मैंने एक तरफ़ छिपा दिया, उसे मालूम नहीं हुआ। मैंने भी सोचा--बस, यही अंतिम रात है। फिर अब और नहीं। उस दिन मैंने उसे जी भर-कर प्यार किया, बहुत किया। अपना हृदय और आत्मा मैंने उसे दे दिया। पिछली रातों की भांति यह रात भी बीत चली, और ऊषा के अलोक में जब उसने हँसकर 'नमस्ते' कही, तब मैंने चुप-चाप, नीरव भाव से चिर-विदा कहा।

मैंने लौटकर नहीं देखा, और चला। सेठ के डेरे की ओर नहीं, लंबी, बलखाती, पेचीलो पहाड़ी सड़क पर, जो नीचे की दुनिया की ओर जा रही थी। उसी आवारागर्दी के आलम में, जिसमें नया आनंद और मस्ती का झरना झर रहा था। दिन बीता, और संध्या-समय एक चट्टी पर, बाहर पड़ी बेंच पर, पड़ा हुआ मैं बीती रातों को सोच रहा था। सब कुछ सपना-सा दीख रहा था। आँखें झपते ही वह आती, देखती, प्यार करती, सिगरेट पिलाती, माथा सहलाती, परंतु आँख खुलने पर सुदूर आकाश के टिमटिमाते तारे, टूटी बेंच और अपना एकाकी अवारागर्दी जीवन।

रास्ते में खाता, पीता, सोता, बैठता, अपनी चिर-अभ्यस्त आवारागर्दी से चला आ रहा था। एक दिन पुलिस ने मुझे पकड़ लिया। सेठजी साथ में थे—उनके क्रोध का ठिकाना न था—बक रहे थे, और मुट्ठियाँ बाँध रहे थे। मैं हँस रहा था। एक अँगूठी मेरी उँगली में थी। उसी से पकड़ा गया। उतारना

भूल गया था। सोचा था, चलती बार उसे पहनाऊँगा। मैंने चोरी स्वीकार की, पर माल कहाँ है, नहीं बताया। मुझे पीटा गया, और भी यातनाएँ दी गईं, परंतु उन यातनाओं में, मार में कितना सुख था, कितना मजा था। वे यातनाएँ उस प्रिय नारी के सुखंद स्पर्श, कोमल प्रेमालिंगन से कहीं अधिक अच्छी लग रही थीं। और, जब जेल की कोठरी मुझे मिली, तो उस एकांत में मैं था, और उस सजनी की जाग्रत् स्मृति। ओह, इसके बाद तो फिर हमारा न कभी बिछोह हुआ, न मिलन। मैं प्रतिक्षण एक ही बात सोचा करता हूँ—काश्मीर की उन मनोरम घाटियों में वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी, जीवन के अंत तक प्रतीक्षा करेगी।

तिकड़म

"अजी, हुआ यह कि एक दोस्त की शादी में मुझे औरंगाबाद जाना पड़ा। छुट्टी नहीं मिलती थी, फिर भी कुछ तिकड़म भिड़ा कर बड़े साहब को झाँसा-पट्टी दे छुट्टी वसूल ही ली। सच तो यों है. होनी खींच ले गई!" इतना कह कर मि० रामनाथ ने एक गहरी साँस ली, और मित्रों की ओर एक बार नैराश्य-पूर्ण दृष्टि से देखकर आकाश की ओर ताकने लगे।

मित्र-मण्डल खिलखिला कर हँस पड़ा। "आपको दोस्त की शादी में जाना पड़ा, माल उड़ाने पड़े, बरात का मजा लूटना पड़ा। इस के लिये आप लुहार की धोंकनी की तरह साँस खींच रहे हैं, और फर्माते हैं—होनी खींच ले गई। भई वाह! यह होनी हम गरीबों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखती।"

मि० रामनाथ एकदम गुस्से से बौखला उठे। उन्होंने झुंझला कर हाथ की सिगरेट फैंक दी और आँखें निकाल कर दोस्तों पर बरस पड़े।

दोस्तों ने कहा—"तो कहते क्यों नहीं? तुम हो तिकड़म-बाज, कहीं उलझ पड़े होगे, और चाँद गरमा गई होगी, लो हम ने कह दिया। पूरब के देहाती जरा बेढब होते हैं।"

रामनाथ ने कहा—"अब सुनोगे भी या अपनी ही बके जाओगे ? पहिले दिन ब्याह हुआ, दूसरे दिन बढ़ार हुई, तीसरे दिन बिदा। बस उसी वक़्त क़यामत बर्पा हो गई !"

एक दोस्त ने कहा—"हम शर्त बाँधते हैं, बस हज़रत की आँखें लड़ गईं—और चाँद पर......"

रामनाथ उठकर जाने लगे। दोस्तों ने मिन्नतें करके कहा—"नाराज़ मत हो यार, सब सुना जाओ, यहाँ दोस्त लोग हैं, जान पर खेल जायेंगे। लो अब सुना दो कच्चा चिट्ठा !"

रामनाथ ने फिर एक साँस ली और कहना शुरू किया—"कोई दस बजे का समय था। बाजे बज रहे थे, दूल्हा-दुलहिन पलंग पर बैठे थे, औरतों ने उन्हें घेर रखा था। कोई गा रही थी, कोई बकबाद कर रही थी। एक चकल्लस मची हुई थी। इतने में एक बाला पर मेरी बदनसीब नज़र पड़ गई !"

"वाह दोस्त, हमने क्या कहा था," एक बोल उठा। दोस्तों ने कहा—"ज़रूर वह सैकड़ों में एक ही होगी, फिर आपने कोई तीर-ऊर फेंका ?"

सैकड़ों में ? क्याँ, लाखों में !" रामनाथ ने जोश में आकर कहा। फिर कुर्ते की आस्तीनें चढ़ाईं और सिगरेट निकाल कर जलाई। दोस्त लोग दम रोके बैठे थे। रामनाथ बोले "बस मैं देखता ही रह गया ! वह आँख, वह नाक, वह रंग, वह कद कि क्या कहूँ, किससे कहूँ, कैसे कहूँ, क्यों कर कहूँ, तुम सब गधे हो ! समझोगे क्या ?"

एक ने कहा—"ठीक कहते हो भई ! हम गधे इन बातों को समझ ही नहीं सकते। लेकिन यार, झटपट यह कह दो—कुछ इशारा किया, शेर पढ़े, बातें कीं, पुर्जा लिखा, किसी तरह अपने दिल का हाल-चाल भी उसे बताया, उसके दिल की भी जानी ?"

"कहता तो हूँ; तुम सब गधे हो ! तुम होते तो यही करते और चांद पिटाते। मैंने तिकड़म से काम लिया, तिकड़म से ?"

"भई वाह, जरा हम सुनें वह तिकड़म !" सब दोस्त हँसी रोक कर बैठ गये । रामनाथ ने एक कश सिगरेट का खींचा और कहा "यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि वह बड़ी ही खूब-सूरत थी, उम्र १६,१७ साल की थी। वह वास्तव में मेरे दोस्त की साली थी और अभी क्वाँरी थी !"

एक दोस्त बीच ही में चिल्ला उठे; बोले "अरे यार, यह कहो, थी ही या अभी है ? है तो फिर दोस्त के बन जाओ साढू और यारों को चलने दो बारात में ! लो दोस्तो, होनी आप को भी औरंगाबाद खींचने वाली है !"

सब दोस्तों ने उसे रोक कर कहा "चुप रहो भाई ! बकवाद न करो। ज़रा सुनने तो दो। हाँ जी, उस तिकड़म की बात कहो अब।"

"वही तो कह रहा हूं। उस वक्त तो मैं जिगर पर तीर खाकर चला आया। घर आकर मैंने घर वाली का ग़ाज़ियाबाद रहने का बन्दोबस्त कर दिया। पूछा तो कह दिया कि 'दिल्ली की आबो-हवा ख़राब है। मकानों के किराये ज्यादा हैं, चीजें मँहगी हैं। नौकरों की क़िल्लत है'; ग़रज़ हर तरह उसका दिल रख दिया। मगर दिल्ली भी मकान क़ायम रखा। दफ़्तर से छुट्टी पाकर ग़ाज़ियाबाद चला आता। कभी-कभी दिल्ली रह जाता। दिल्ली में पड़ोसियों और दोस्तों से कह दिया कि घर वाली बहुत बीमार है। परेशान हूं। डाक्टरोंने आबो-हवा बदलने को कहा है।···कुछ दिन यह धन्धा चला। और एक दिन वह मर गई !"

मित्रगण एकदम चौंक पड़े "क्या मर गई ? मगर बीमारी तो महज़ बहाना ही था; फिर···"

रामनाथ ने एक कश खींचकर धुँये के बादल बनाये, फिर धीरे से कहा "मतलब यह कि यहाँ दिल्ली में मशहूर कर दिया गया कि मर गई। बाक़ायदा क्रिया-कर्म हुये, तेरह ब्राह्मण आये और खा गये; पिता जी आये और रो-पीट गये। उसके भाई-बाप माँ भी सब दस्तूर कर गये।"

यारों की समझ में नहीं आ रहा था कि हँसें या रोयें; यह सच कह रहा है या गप उड़ा रहा है ? वे आँखें फाड़-फाड़ कर रामनाथ की ओर देख रहे थे। और रामनाथ कह रहा था "इस काम से निपट कर अब ब्याह की बात चली। मैंने साफ़ इनकार कर दिया। दिन में तीन चार बार प्याज का टुकड़ा आँख में लगा लेता था, आँसू ख़ूब बहते थे; आँखें सूजी रहती थीं। खाना रात को खाता था, दिन में सिर्फ चटाई पर पड़ा रहता था। बलदेव से पूछिये ना, यह तो रोज ही आता था। बेवकूफ़; यह भी मेरे साथ रोता था। बाजार से मिठाई ला-ला कर खिलाना चाहता, सिनेमा ले जाना चाहता, मगर मैं था कि चटाइ से उठना हराम समझता था।"

बलदेव ने कहा "अरे जालिम! तो यह सब मेरा एक्टिङ्ग था ? यार, फिर तो किसी फिल्म में जाकर अभिनेता बन। क्लर्की की कलम घिसने में क्या धरा है ? मगर यार, गजब का एक्टिङ्ग था!"

"एक्टिङ्ग नहीं था, वह तिकड़म थी!" रामनाथ ने गम्भीरता से कहा।

यारों ने कहा "वह भी तो सुनाओ, तिकड़म क्या थी ?"

"शादी की चर्चा चलती ही रही। पिता जी सिर खारहे थे। मैं 'ना-ना' कर रहा था। मगर मैंने पिताजी से दोस्त की साली की ओर इशारा करा दिया था। यह बैठे हैं हजरत रघुनाथ, कहते

क्यों नहीं ? पिता जी से खूब नमक-मिर्च लगा कर तुम्हीं ने तो उसकी चर्चा की थी !"

रघुनाथ ने गुर्राकर कहा "मगर मुझे क्या मालूम था कि तुम पक्के पाजी हो ! दग़ाबाज; बेईमान···"

"पाजी-ऊजी तुम हो ! मैं सिर्फ तिकड़म-बाज हूँ । तुम सुनते हो या मैं चला जाऊं ?"

सब ने कहा "सुनाओ यार, यह तुम्हारी तिकड़म बड़ी बेढब रही ।"

धीर-गम्भीर स्वर में रामनाथ कहने लगा। सिगरेट बुझ गई थीं उसे फेंक दिया। "सगाई पक्की होगई। सुन कर मेरी बांछें खिल गईं। गाजियाबाद अब मैं तीन चार दिन में जाता था। घर वाली कहती-सुनती तो मैं दो-चार गालियां दफ़्तर वालों को सुना देता था 'इतना काम दे रखा है कि नाक में दम है !' आखिर सगाई चढ़ी, लगन आई, और सब टेहले भुगते गये। बारात में इने-गिने आदमी थे, भण्डा फोड़ होने के डर से दिल्ली से दोस्तों का बायकाट कर दिया था। दस-पांच बड़े-बूढ़े ले लिये थे। हमारे साले साहब भी बुलाये गये थे, उन्होंने लिखा था, 'छुट्टी मिल सकी तो आने की कोशिश करूंगा।' गरज ठीक समय पर बारात चली। जरा देर की फुरसत निकाल कर गाजियाबाद हो आया। घरवाली से कहा "एक बारात में जाना पड़ रहा है। दो-तीन दिन लगेंगे, जरा होशियार रहना।" और फिर मैं उबटना करा, जामा पहिन, झट नौशा बन, नई सुसराल को बारात ले चल दिया !"

(२)

मि० रामनाथ दिल्ली की एक बैंक में क्लर्क हैं। वे मेरे बहनोई होते हैं। मेरी छोटी बहिन उन्हें ब्याही है। रङ्गीली तबियत के आदमी हैं। दो महीने पहिले खबर मिली थी कि बहिन का

इन्तक़ाल हो गया, बड़ा अफ़सोस हुआ। मैं तब न आ सका था। पिता जी और बड़े भाई आये थे।

अब जो शादी का निमन्त्रण पहुँचा तो फिर मुझे आना ही पड़ा। टूटे रिश्ते का बहुत ख्याल रखना पड़ता है। पिता जी ने भी लिख दिया कि ज़रूर जाना। मैं वक़्त के वक़्त ही पहुँचा। पता लगा, बारात इसी गाड़ी से जा चुकी है। लाचार मोटर से जाने का इरादा किया और लारी में बैठ कर चल दिया। ग़ाज़ियाबाद में लारी कुछ देर को रुकी। गरमी तेज़ थी, सोचा—एक गिलास शरबत पीकर पान खा लूँ। सामने ही दूकान थी। शरबत पी रहा था कि एक लड़के ने आकर कहा "आपको बीबी जी बुला रही हैं।"

मैं बड़ा अकचकाया, पूछा 'कौन बीबी जी ?'

उसने सामने के चिक पड़े एक दुमंज़िले बरांडे की ओर उंगली उठाई। कोई स्त्री चिक उठा कर हाथ से इशारा करके बुला रही थी। दूर होने के कारण पहिचान न पाया। पास जाकर देखा तो बहिन है! पहिले आँखों को धोखा हुआ। मैं पैर बढ़ाकर एक एक ही साँस में ऊपर चढ़ गया। बहिन ही थी। वह हंस रही थी, और मेरी आँखों से 'धड़ाधड़' आँसू बह रहे थे।

बहिन की हंसी ओठों में रह गई। उसे घर में किसी अनिष्ठ की आशंका हुई। उसने घबरा कर कहा "भैया, हुआ क्या है, कहो तो? घर में सब अच्छे तो हैं ?"

मैंने सिर हिला कर कहा, "सब अच्छे हैं। पर बीबी तू तो मर गई थी !"

"मैं मर गई थी ? यह खूब कही। मैं तो यह खड़ी हूँ। तुम से किसने कहा ?"

मैंने आँखें पोंछी, फिर मलीं और आँखें फाड़-फाड़ कर बहिन को देखने लगा।

बहिन ने कहा "भैया, क्या तुम्हारा सिर फिर गया है ?"

"तो तुम मरी नहीं हो ?" मैं धम्म से कुर्सी पर बैठ गया।

बहिन जल्दी से एक गिलास शरबत बना लाई और जबर-दस्ती मुझे पिला दिया। फिर हँसकर कहा "अब देखो, जिन्दी हूँ या नहीं।"

मैंने उसे ऊपर से नीचे तक देखा और कहा—"बेशक तुम ज़िन्दी हो—मगर···"

"मगर क्या ?"

"जीजा जी कहाँ हैं ?"

"वे एक बरात में गये हैं।"

"यहाँ कब आये थे ?"

"अभी सुबह ही तो गये हैं।"

"वे यहाँ रोज़ आते हैं ?"

"आज-कल दफ्तर में काम बहुत है, इसीसे अक्सर रातको वहीं रह जाते हैं। आज-कल नौकरी का मामला ऐसा ही है भैया!"

अब मैं मामला कुछ-कुछ समझा, मैंने कहा "जीजा जी ने तो खेल अच्छा खेला। खैर देखा जायगा, तुझे अभी मेरे साथ चलना होगा। अभी इसी दम।"

"कहाँ ?"

"घर।"

"क्यों ? क्या बात है ?"

"कुछ बात ही है, तू तैयार हो, नीचे मोटर खड़ी है।"

"लेकिन वे तो घर पर हैं नहीं!"

"तू चल तो सही!"

बस, मैं उसे ले सीधा गाँव पहुंचा। बहिन को देखते ही पिता जी ने छाती से लगा लिया। मैंने कहा "पिता जी, यह सारी कारिस्तानी नई शादी करने की है। जल्दी चलो, शादी रुकवानी होगी।" बस हम लोग गाँव के दो तीन आदमियों को ले बहिन को साथ कर, सीधे औरंगाबाद जा धमके!

(३)

"फिर क्या हुआ?"

"जो होनी थी, वही हुआ!"

"यानी?"

"बारात चढ़ चुकी थी। बरोठी हो रही थी, पकवान बन रहे थे। बैंड बज रहे थे। बन्दा मुसकरा रहा था। दिल धड़क रहा था कि सब गुड़ गोबर हो गया! सालिगराम घर वाली और सुसर साहब को ले धूमधाम से जा धमके! रंग में भंग पड़ गया। हमारे नये सुसर साहब ज़रा भलेमानुस थे। वे तो सोचते ही रहे, पर हमारे नये तीनों साले और सालिगराम चीते की तरह झपट पड़े। मोहर-वोहर तोड़ डाला। घोड़ी से उतार, जामा फाड़, लात घूँसों से वह पूजा की कि यह देखो!" रामनाथ ने कुरता उघाड़ अपना बदन दिखा दिया। जगह-जगह नीले दाग पड़े थे। एक घूंसा आँख पर भी पड़ा था, मगर आँख फूटी नहीं, बच गई थी।

यार लोग अब ज़ब्त न कर सके। बेतहाशा हँस पड़े। परन्तु रामनाथ निर्विकार रूप से सिगरेट जलाकर चुपचाप पीने लगे।

बलवीर ने कहा—"यह आँख पर भी शायद घूंसा लगा है, क्यों?"

"हाँ, छोटे साले के दस्तख़त हैं। पता नहीं, हाथ था। कि हथौड़ा, देहाती है साला! अजी बानक ही बिगड़ गया। और दो घण्टे की बात थी कि जय गंगा। फिर यही साले पैर पूजते।"

दोस्त ने कहा "ख़ैर हुई आँख बचगई। पर यार यह बुरा हुआ। मगर यह सब तुम्हारा ही गधापन है। तुम कहते हो कि हम गधे हैं, पर हम कहते हैं, तुम गधे हो!"

"मैं गधा क्यों हूँ?"

"इसलिए कि यारों को नहीं ले गये। यार लोग गये होते तो तुम्हारी ऐसी पूजा होना क्या मज़ाक थी? ले लेकर हाकी-स्टिक जो टूट पड़ते तो क़यामत बर्पा कर देते और लाखों में ब्याह रचा कर आते!"

एक ने कहा—"मगर यार, तुम घरवाली और पुराने साले-सुसरों को देखकर झेंप क्यों गये? कह देते—तुम भी मुक़र्रिर रहो, ये भी रहें! विशाल उदार हिन्दू-धर्म में सब के लिये जगह है, अंग्रेजों ने भी क़ानून में दरवाज़े खिड़कियाँ छोड़ रखीं हैं!"

"मैंने बहुत कहा यार, मगर साले लोगों ने अंधेर मचा दिया। समझदार तो थे नहीं, बस लगे चरनदास से पूजा करने! एक तो देहाती, दूसरे जवान हट्टे-कट्टे, तीसरे उनका घर। लाचारी हो गई।"

दोस्तों ने मूंछें मरोड़ीं और आस्तीनें चढ़ाईं—"वाह यार, चलो एक बार फ़िर। लाखों में शादी करायें। नहीं तो डोला उठा लावें। भला जिसका तेलबान चढ़ गया उसकी शादी कहीं और हो सकती है?"

रामनाथ का चेहरा सफेद हो गया। सिगरेट फेंक कर उसने कहा—"वह मौक़ा अब नहीं रहा। दोनों सुसरों ने मिल मिलाकर झगड़ा ख़तम कर लिया। सुसर नम्बर २ कहने लगे—'मेरी इज्जत अब कैसे बचे? इसी मंढे पर लड़की की शादी अब कैसे हो?' सुसर नम्बर १ बोले— 'आपकी इज्जत हमारी इज्जत है। मेरा लड़का हाज़िर है।' झट देखते-देखते पाजी साले को जामा

पहिना दिया गया। घोड़ी पर चढ़ाया गया, बाजे बजने लगे। सब नेग टेहले भुगतने लगे—मुझे जैसे सब भूल ही गये !"

"फिर तुमने क्या किया ? क्या भाग आए ?"

"भाग कैसे सकता था ? सुसर नम्बर १ ने एक न सुनी; कहने लगे—तुम हमारे मान हो, जा कैसे सकते हो ?"

"भई वाह, तो तुम सालिगराम के व्याह में दूल्हे से बराती बन गये। भई रहा खूब !"

रामनाथ बिगड़ गये। कहने लगे—"तुम्हें भी यही करना पड़ता।"

एक बार फिर दोस्तों में क़ह-क़हा मचा। और मि० रामनाथ ठण्डी साँस भरते, आह-ऊँह करते उठ कर रफ़ू-चक्कर हुये।

डाक्टर साहब की घड़ी

———:※:———

डाक्टर बेदी एम० डी० रियासत के पुराने और प्रख्यात डाक्टर हैं। अपने गत पचास वर्ष के लम्बे जीवन में उन्होंने बड़े-बड़े मार्के के इलाज किये हैं। सिर्फ़ अपनी ही रियासत में नहीं, रियासत से बाहर भी अनेक राजपरिवारों में उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा और धूमधाम है। उन्होंने बहुत धन कमाया; एक से एक बढ़ कर अनूठी चीजें रईसों से इनामों और भेंटों में लीं। उनका ड्राइंगरूम उन चीजों से ठसाठस भरा हुआ है। वे फ़ुरसत के वक्त अक्सर इसी ड्राइंगरूम में बैठ कर अपने दोस्तों को उन भेंटों में पाई हुई चीजों के सम्बन्ध में एक से एक बढ़कर अद्भुत बातें सुनाया करते हैं। कोई-कोई बात तो बड़ी ही सनसनी भरी, आश्चर्यजनक और अत्यन्त प्रभावशाली होती है। अब वे प्रेक्टिस नहीं करते, यों कोई पुराना प्रेमी घसीट ले जाय तो बात जुदी है। आने जाने वालों का तो उनके यहाँ ताँता ही लगा रहता है; क्योंकि वे मिलनसार, खुशमिज़ाज, उदार और 'नेकी कर कुँये में डाल' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले पुरुष हैं। उनका

लम्बा-चौड़ा डील-डौल, साढ़े तेरह इञ्च की बड़ी मूँछें मोटी और भरी हुई भौंहें, तेज नुकीली नाक और मर्मभेदिनी दृष्टि असाधारण हैं। छोटे से बड़े तक पर उनका रुआब है, पर वे छोटे-बड़े सब पर प्रेम-भाव रखते हैं। वे वास्तव में एक सहृदय और दयावान् पुरुष हैं; भाग्यवान् भी कहना चाहिये। उनका जीवन सदा मजे में कटा और अब भी मजे में ही कट रहा है। वे सब प्रकार के शोक, सन्ताप, चिन्ता और वेदना से मुक्त आनन्दी पुरुष की भाँति रहते हैं। बूढ़े भी उनके दोस्त हैं और जवान भी; बालक भी दोस्त हैं। अपने पास आते ही वे सब को निर्भय कर देते हैं; ऐसा ही उनका सरल स्वभाव है।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि उन्होंने बड़े-बड़े मार्के के इलाज किये हैं और बड़े-बड़े इनाम इक़राम और भेंटें प्राप्त की हैं, और इनाम और भेंटों की ये सब अनोखी चीजें उनके ड्राइंग-रूम में सजी हुई हैं। बड़ी-बड़ी शेरों और चीतलों की खालें, मगर के ढाँचे, असाधारण लम्बे पशुओं के सींग, बहूमूल्य क़ालीन, अलभ्य कारीगरी की चीजें, दुर्लभ चित्र और भारी-भारी मूल्य की रत्न-जटित अँगूठियाँ, पिनें और क़लमें। परन्तु इन सब में अधिक आश्चर्यजनक और बहुमूल्य वस्तु एक घड़ी है। यह घड़ी उन्हें एक इलाज के सिलसिले में नैपाल जाने पर वहाँ के दरबार से मिली थी। इसका आकार एक बड़े नींबू के समान है और यह नींबू के ही समान गोल है। उसमें कहीं भी घण्टे या मिनट की सुई नहीं, न अंक ही अंकित है। सारी घड़ी क़ीमती प्लाटिनम की महीन कारीगरी से कटी बूटियों से परिपूर्ण है। और उसमें उज्ज्वल असल ब्रेजील के हीरे जड़े हैं। सिर्फ दो हीरे, जो सब से बड़े हैं और जिनमें एक बहुत हलकी नीली आभा झलकती है, ऐसे मनोमोहक और क़ीमती हैं कि उन्हीं से एक छोटी-मोटी रियासत ख़रीद ली जा सकती है।—उनमें जो बड़ा और तेजस्वी

हीरा है उस पर उँगली की पोर का एक हलके से स्पर्श का दबाव पड़ते ही घड़ी अत्यन्त मोहक सुरीली तान में घंटा, मिनट, सैकिंड सब बजा देती है उस तान की गूँज समाप्त होते-होते ऐसा मालूम देता है मानो अभी-अभी यहाँ कोई स्वर्गीय वातावरण छाया रहा हो। दूसरे हीरे को तनिक दबा देने से दिन, तिथि, तारीख-पक्ष, मास, संवत् सब ध्वनित हो जाते हैं। यही नहीं, घड़ी में हज़ार वर्ष का कैलेण्डर भी निहित है; हज़ार वर्ष पहिले और आगे के चाहे भी जिस सन् का दिन, मास और तारीख आप मालूम कर सकते हैं। ऐसी ही वह आश्चर्य-जनक घड़ी है, जिसे डाक्टर साहब अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। कहते हैं—एक बार हुज़ूर आलीजाह महाराज ने पचास हज़ार रुपये इस घड़ी का डाक्टर साहब को देना चाहा था, तिस पर डाक्टर साहब ने घड़ी महाराज के चरणों में डाल कर कहा था—'अन्न-दाता, मेरा तन, मन, धन, सब आपका है, फिर घड़ी की क्या औक़ात है; पर इसे मैं बेच तो सकता ही नहीं!' और महाराज हँसते हुये चले गये थे। यह घड़ी स्वीडन के एक नामी कलाकार से नैपाल के लोक-विख्यात महाराज चन्द्र शमशेर जङ्ग-बहादुर ने, जब वे विलायत गये थे, मुँह माँगा दाम देकर खरीदी थी और अपने इकलौते पुत्र के प्राण बचाने पर सन्तुष्ट होकर उन्होंने यह डाक्टर को दे डाली थी। वह घड़ी वास्तव में नैपाल के उत्तरा-धिकारी के प्राणों के मूल्य की थी। कमरे के बीचों-बीच बिल्लौर की एक गोल मेज थी। यह मेज़ ठोस बिल्लौर की थी, उसका सारा ढाँचा ही बिल्लौर का था। सर्पाकार एक पाये के ऊपर मेज़ रक्खी थी। यह मेज़ ख़ास इसी मकसद के लिये डाक्टर साहब ने ख़ास लण्डन से ख़रीदी थी। उस मेज़ पर इटली की बनी एक अति भव्य मार्बल की स्त्री-मूर्ति थी। यह मूर्ति रोमन कला की प्रतीक रूप थी, जिसे डाक्टर साहब ने बड़ी खोज-जाँच से ख़रीद कर

उसके हाथ में एक चतुर कारीगर से एक स्प्रिंग लगवाया था, जिसकी ऐसी व्यवस्था थी कि घड़ी हमेशा उस पुतली के उसी हाथ में रक्खी रहती थी। ठीक समय पर घड़ी के हीरे पर स्प्रिङ्ग का दबाव पड़ता तो घड़ी में ताल स्वर युक्त मधुर सङ्गीत की ध्वनि निकलती। उस समय जैसे वह प्रस्तर मूर्ति ही मुखरित हो उठती थी। मित्रगण घड़ी का यह चमत्कार देख, जब आश्चर्य-सागर में गोते खाने लगते तो डाक्टर गर्वोन्नत नेत्रों से कभी घड़ी को और कभी मित्रों को घूर-घूर कर मन्द-मन्द मुसकराया करते थे।

(२)

सावन का महीना था। रिमझिम वर्षा हो रही थी। ठण्डी हवा बह रही थी। काले-काले मेघ आकाश में छा रहे थे; बीच-बीच में गंभीर गर्जन हो रहा था। चारो ओर हरियाली अपनी छटा दिखा रही थी। दिन का तीसरा प्रहर था। डाक्टर साहब अपने तीन घनिष्ठ मित्रों के साथ उसी ड्राइंगरूम में बैठे आनन्द से धीरे-धीरे वार्तालाप कर रहे थे। उन मित्रों में एक मेजर भार्गव थे, दूसरे दीवान पारख थे और तीसरे एक नवयुवक मिस्टर चक्रवर्ती आई० सी० एस० थे। एका-एक घड़ी में से मधुर गूँज उठी। मित्र-मंडली चकित होकर घड़ी की ओर देखने लगी डाक्टर साहब आँखें बन्द किये सोफ़े पर ओढ़क कर उस मधुर स्वर-लहरी को जैसे कानों से पीने लगे। जब घड़ी का संगीत बन्द हुआ तो मिस्टर चक्रवती ने कपाल पर आँखें चढ़ाकर कहा—"अद्‌भुत घड़ी है यह आप की डाक्टर साहब!" यह तो मानो घड़ी की कुछ तारीफ़ ही न थी। डाक्टर ने सिर्फ़ मुस्करा दिया। मेजर साहब ने कहा—"अद्‌भुत? अजी, इस घड़ी का तो एक इतिहास है!" फिर उन्होंने डाक्टर की ओर मुंह कर के कहा—"वह सूबेदार साहब वाली घटना तो इसी घड़ी से सम्बन्ध रखती है न?"

डाक्टर साहब जैसे चौंक पड़े। एक वेदना का भाव उनके ओठों पर आया और उन्होंने धीमे स्वर से कहा "जी हाँ, वह दुखदाई घटना इसी घड़ी से सम्बन्ध रखती है।"

मित्र गण चौकन्ने हो गये। मिस्टर चक्रवती बोल उठे "क्या मैं इस घटना का वर्णन सुन सकता हूँ?"

डाक्टर ने उदास होकर कहा "जाने दीजिये मिस्टर चक्रवर्ती, उस दारुण घटना को भूल जाना ही अच्छा है, खास कर जब उसका सम्बन्ध मेरी इस परम प्यारी घड़ी से है।"

परन्तु मिस्टर चक्रवर्ती नहीं माने, उन्होंने कहा "यह तो अत्यन्त कौतूहल की बात मालूम होती है। यदि कष्ट न हो तो कृपा कर अवश्य सुनाइये। यह जरूर कोई असाधारण घटना रही होगी, तभी उससे आप ऐसे विचलित होगये हैं।"

"असाधारण तो है ही!" कह कर कुछ देर डाक्टर चुप रहे फिर उन्होंने एक-एक करके प्रत्येक मित्र के मुख पर दृष्टि डाली। सब कोई सन्नाटा बाँधे डाक्टर के मुँह की ओर देख रहे थे। सब के मुख पर से उनकी दृष्टि हट कर घड़ी पर अटक गई। वे बड़ी देर तक एक टक घड़ी को देखते रहे, फिर एक ठण्डी साँस लेकर बोले—"आपका ऐसा ही आग्रह है, तो सुनिये!"

(३)

धीरे धीरे डाक्टर ने कहना शुरू किया—"चौदह साल पुरानी बात है। सूबेदार कर्नल ठाकुर शार्दूलसिंह मेरे बड़े मुरब्बी और पुराने दोस्त थे। वे महाराज के रिश्तेदारों में होते थे। उनका रियासत में बड़ा नाम और दरबार में प्रतिष्ठा थी। उनकी अपनी एक अच्छी जागीर भी थी। वह देखिये, सामने जो लाल हवेली चमक रही है, वह उन्हीं की है। बड़े ठाट और रुआब के आदमी थे, अपने ठाकुरपने का उन्हें बड़ा घमण्ड

था। उनके बाप-दादों ने मराठों की लड़ाई में कैसी-कैसी वीरता दिखाई थी— वे सब बड़ी दिल-चस्पी से सुनाया करते थे। वे बहुत कम लोगों से मिलते थे, सिर्फ मुझी पर उनकी भारी कृपा दृष्टि थी। जब भी वे अवकाश पाते आ बैठते थे। बहुधा शिकार को साथ ले जाते थे। और हफ्ते में एक बार तो बिना उनके यहां भोजन किये जान छुटती ही न थी। उनके परिवार में मैं ही इलाज किया करता था। मैं तो मित्रता का नाता निवाहना चाहता था और उनसे कुछ नहीं लेना चाहता था, पर वे बिना दिये कभी न रहते थे। वे हमेशा मुझे अपनी औक़ात और मेरे मिहनताने से अधिक देते रहे। मेरे ऊपर उन्होंने और भी बहुत अहसान किये थे, यहां तक कि रियासत में मेरी नौकरी उन्होंने लगवाई थी और महाराज आलीजाह की कृपा दृष्टि भी उन्हीं की बदौलत मुझ पर थी।

"एक दिन सदा की भाँति वे इसी बैठकखाने में मेरे पास बैठे थे। हम लोग बड़े प्रेम से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। वास्तव में बात यह थी कि मैं उनका बहुत अदब करता था, उनका व्यक्तित्व ही ऐसा था, फिर मुझ पर तो उनके बहुत से अहसान थे। एकाएक मुझे जरूरी 'कॉल' आ गई। पहले तो सूबेदार साहब को छोड़कर जाना मुझे नहीं रुचा; परन्तु जब उन्होंने कहा कि कोई हर्ज नहीं, आप मरीज को देख आइये, मैं यहां बैठा हूँ तब मैंने कहा—'इसी शर्त पर जा सकता हूँ कि आप जायँ नहीं।' तो उन्होंने हँस कर मंजूर किया— और पैर फैलाकर मजे में बैठ गये।

"मैंने झटपट कपड़े पहिने, स्टेथस्कोप हाथ में लिया और रोगी देखने चला गया। रोगी का घर दूर न था। झटपट ही उससे निपट कर चला आया। देखा तो सूबेदार साहब सोफे पर

पर बैठे मजे से ऊँघ रहे हैं। मैंने हँस कर कहा— 'वाह, आपने तो अच्छी खासी झपकी लेली!' सूबेदार भी हँसने लगे। हम लोग फिर बैठ कर गपशप उड़ाने लगे।

उसी दिन पाँच बजे मुझे महलों में जाना था। एकाएक मुझे यह बात याद हो आई और मैंने अभ्यास के अनुसार मेज़ पर घड़ी को टटोला। तब यह बिल्लौर मेज़ मैंने नहीं खरीदी थी, वह जो मेरी आफ़िस-टेबिल है, उसी पर एक जगह यह घड़ी मेरी आँखों के सामने रक्खी रहती थी। परन्तु उस समय जो देखता हूँ तो घड़ी का कहीं पता न था! कलेजा धक से होगया। अपनी बेवकूफी पर पछताने लगा कि इतनी कीमती घड़ी ऐसी अरक्षित जगह रक्खी ही क्यों? मैं तनिक व्यस्त होकर घड़ी को ढूँढने लगा, मेरी घड़ी कितनी बहुमूल्य है, यह तो आप जानते ही हैं। सूबेदार साहब भी घबड़ा गये, वे भी व्यस्त होकर मेरे साथ घड़ी ढूंढ़ने में लग गये। बीच में भांति भांति के प्रश्न करते जाते थे। परन्तु यह निश्चय था कि थोड़ी ही देर पहिले जब मैं बाहर गया था, घड़ी वहाँ रक्खी थी। मैंने उसे भली भांति अपनी आँखों से देखा था। पर यह बात मैं साफ साफ सूबेदार साहब से नहीं कह सकता था, क्यों कि वे तो तब से अब तक यहीं बैठे थे। कहीं वे यह न समझने लगें हमीं पर शक किया जा रहा है। खैर, घड़ी वहाँ न थी, वह नहीं मिलनी थी और नहीं मिली। मैं निराश होकर धम्म से सोफे पर बैठ गया पर ऐसी बहुमूल्य घड़ी गुमा देना और सब्र कर बैठना आसान न था। भांति भांति के कुलाबे बांधने लगा। सूबेदार साहब भी पास आ बैठे और आश्चर्य तथा चिन्ता प्रकट करने लगे। उन्होंने पुलिस में भी खबर करने की सलाह दी, नौकर चाकरों की भी छान-बीन की।

परन्तु मेरा सिर्फ़ एक ही नौकर था। वह बहुत पुराना और विश्वासी नौकर था। गत पन्द्रह वर्षों से वह मेरे पास था, तब से एक बार भी शिकायत का मौक़ा नहीं दिया। फिर इतनी असाधारण चोरी वह करने का साहस कैसे कर सकता था? पर सूबेदार साहब उससे बराबर जिरह कर रहे थे और वह बराबर मेज़ पर उँगली टेक-टेक कर कह रहा था 'यहाँ उसने झाड़-पोंछ कर घड़ी अपने हाथ से सुबह रक्खी है।' मैं आँखें छत पर लगाये सोच रहा था कि घड़ी आखिर गई तो कहाँ गई?

एकाएक सूबेदार साहब का हाथ उनकी पगड़ी पर जा पड़ा: उसकी एक लट ढीली सी हो गई थी, वे उसी को शायद ठीक करने लगे थे। परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है, पगड़ी के छूते ही वही मधुर तान पगड़ी में से निकलने लगी! पहिले तो मैं कुछ समझ ही न पाया। नौकर भी हक्का-बक्का होकर इधर-उधर देखने लगा। सूबेदार साहब के चेहरे पर घबराहट के चिन्ह साफ़ दीख पड़ने लगे। क्षण भर बाद ही नौकर ने चीते की भाँति छलाँग मारकर सूबेदार साहब के सिर पर से पगड़ी उतार ली और उससे घड़ी निकाल कर हथेली पर रखकर कहा— 'यह रही हुज़ूर आपकी घड़ी! अब आप ही इन्साफ़ कीजिए कि चोर कौन है?' उसके चेहरे की नसें उत्साह से उमड़ आई थीं और आँखें आग बरसा रही थीं। वह जैसे सूबेदार साहब को निगल जाने के लिये मेरी आज्ञा माँग रहा था। सब माजरा मैं भी समझ गया। सूबेदार साहब का चेहरा सफेद मिट्टी की माफ़िक हो गया था और वे मुर्दे की भाँति आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी तरफ़ देख रहे थे। कुछ ही क्षणों में मैं स्थिर हो गया। मैंने लपक कर खूँटी से चाबुक उतारा और एकाएक पाँच-सात नौकर की पीठ पर जमा दिये। घड़ी उसके हाथ से मैंने छीन ली।

इसके बाद जितना क्रुद्ध स्वर बनाया जा सकता था उतना क्रुद्ध होकर मैंने कहा—सुअर, इतने दिन मेरे पास रह कर तूने अभी यह नहीं सीखा कि बड़े आदमी का अदब कैसे किया जा जा सकता है, क्या दुनिया में एक मेरे ही पास घड़ी है, सूबेदार साहब के पास वैसी पच्चीस घड़ी हो सकती हैं।

नौकर गाली और मार खाकर चुपचाप मेरा मुँह ताकता रहा। मेरा यह व्यवहार उसके लिये सर्वथा अतर्कित था। वह एक शब्द भी नहीं बोला।

इसके बाद मैं सूबेदार साहब के पास गया। उनका चेहरा सफेद; मुर्दे के समान हो रहा था, वे आँखें फाड़ फाड़ कर मेरी ओर ताक रहे थे, मैंने नम्रता से उनसे कहा, सूबेदार साहब, मेरे नौकर ने जो आपके साथ बेअदबी की है वह उसका कसूर नहीं है, मेरा है परन्तु पुराने ताल्लुक़ात और उन कृपाओं का ख़्याल करके जो आपने हमेशा मेरे ऊपर की हैं, मैं आपसे क्षमा की आशा करता हूँ।" यह कहकर मैंने घड़ी उनके हाथ पर रख दी।

सूबेदार साहब ने चुपचाप घड़ी ले ली। और वे यन्त्र चालित से उठकर चुपचाप ही अपने घर को चल दिये। मैं द्वार तक उनके पीछे दौड़ा परन्तु उन्होंने फिर मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

मेरा मन कैसा कुछ होगया था कह नहीं सकता। परन्तु मुझे महल अवश्य जाना था। और ५ बजने में अब देर नहीं थी मैंने झटपट कपड़े पहिने और घर से निकला। अभी मैंने गाड़ी में पैर ही किया था कि सूबेदार साहब का आदमी हांपता हुआ बदहवास सा आया उसने कहा जल्दी चलिए डॉक्टर साहब। सूबेदार साहब ने जहर खा लिया है और उनकी हालत बहुत खराब है।"

मैं घबराकर सीधा उनके घर पहुँचा। एक कोहराम मचा था। भीड़ को पार करके मैं सूबेदार साहब के पलंग के पास गया। अभी वे होश में थे। मुझे देखकर टूटते स्वर में उन्होंने कहा "घड़ी मैंने आपकी चुराई थी डाक्टर साहब, परन्तु मेरी इज्जत बचाकर जीवन भर में जो कुछ मैंने आपकी भलाई की थी उसका पूरा बदला आपने चुका दिया। लीजिए मेरे हाथ से अपनी घड़ी ले जाइये। अब मैं जिन्दा नहीं रह सकता। परन्तु आप इस चोर सूबेदार को भूलियेगा नहीं। और उसे माफ कर देने की कोशिश कीजिएगा।"

सूबेदार साहब की आँखें उल्टी-सीधी होने लगी। अब वास्तव में कुछ भी नहीं हो सकता था। मैंने चुपके से घड़ी जेब में डालली, और सब की नजर बचाकर आँखें पोंछ ली। कुछ मिनटों में ही सूबेदार ने दम तोड़ा और मैं जैसे तैसे उनके घरवालों को दम दिलासा देकर डाक्टरी गम्भीरता बनाये अपने घर आ गया।

डाक्टर ने एक गहरी सांस ली और एक बार मित्रों की ओर, और फिर उस घड़ी की ओर देखा। सभी मित्रों की आँखें गीली थीं। और देर तक किसी के मुँह से आवाज नहीं निकली।

मरम्मत

"दशहरे की छुट्टियों में भैया घर आ रहे हैं, उनके साथ उनके एक मित्र भी हैं, जब से यह सूचना मिली है घर भर में आफ़त मची है। कल दिन भर नौकर-चाकरों की कौन कहे, घर के किसी भी आदमी को चैन नहीं पड़ा। दीना की माँ को चार दिन से बुखार आ रहा था, पर उस बेचारी पर भी आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। दिन भर ग़रीब चूल्हे पर बैठी रही। कितने पकवान बनाये गये, कितनी जिन्स तैयार की गई है बापरे! भैया न हुए भीमसेन हुए। दुलारी उनके लिए और उनके उन निखट्टू दोस्त के लिए कमरा झाड़ रही है, रामू और रघू वहाँ रूमाल, तौलिए, सुराही, चाय के सेट, चादर, बिछौने और न जाने क्या-क्या सरंजाम जुटाते रहे। रात भर खट-खट रही। अभी दिन भी नहीं निकला और बाबू जी आँगन में खड़े गर्ज रहे हैं। सईस को गालियां सुनाई जा रही हैं, 'अभी तक गाड़ी स्टेशन पर नहीं गई। फिटिन भी जानी चाहिए और विक्टोरिया भी।' कहो जी, अकेला सईस दो दो गाड़ियां कैसे ले जायगा, फिर भैया ऐसे कहां के

लाट साहेब हैं, एक गाड़ी क्या काफी नहीं ? उनके वे दोस्त भी कोई आवारागर्द मालूम देते हैं, छुट्टियों में अपने घर न जा कर पराए घर आ रहे हैं, ईश्वर जाने उनका घर है भी या नहीं।"

रजनी आप ही आप बड़बड़ा रही थी। सूरज निकल आया था, धूप फैल गई थी, पर वह अभी बिछौने ही पर पड़ी थी। उसके कमरे में कोई नौकर-नौकरानी नहीं आई थी, इसी से वह बहुत नाराज़ हो रही थी। एक हल्की फ़ीरोजी ओढ़नी उसके सुनहरे शरीर पर अस्त-व्यस्त पड़ी थी, चिकने और घुंघर वाले बाल चाँदी के समान मस्तक पर बिखर रहे थे। बड़ी बड़ी आंखें भरपूर नींद का सुख लूट कर थोड़ी लाल हो रही थीं। गुस्से से उसके होठ सम्पुटित थे, भौंहों में बल थे, वह पलंग पर औंधी पड़ी थी। एक मासिक पत्रिका उसके हाथों में थी। वह तकिये पर छाती रक्खे अनमने भाव से उसके पन्ने उलट रही थी।

रजनी की माँ का नाम सुनन्दा था। खूब मोटी ताजी, गुद्-गुदी ठिगनी स्त्री थीं। जब वे फुर्ती से काम करतीं तो उनका गेंद की तरह लुढ़कना एक अजब बहार दिखाता था। वह एक अच्छी सुगृहिणी थीं, दिन भर काम में लगी रहती थीं। उनके हाथ बेसन में भरे थे और पल्ला धरती में लटक रहा था। उन्होंने जल्दी-जल्दी आकर कहा "वाह री रानी बेटी, तेरे ढङ्ग तो खूब हैं। भैया घर में आरहे हैं, दस काम अटके पड़े हैं और रानी जी पलङ्ग पर पड़ी किताब पढ़ रही हैं। उठो ज़रा, रमिया हरामज़ादी आज अभी तक नहीं आई। ज़रा गुसलखाने में धोती, गमछा, साबुन सब सामान ठिकाने से रख दो— भैया आकर स्नान करेंगे। उठ तो बेटी! अरी पराये घर तेरी कैसे पटेगी ?"

रजनी ने सुनकर भी माँ की बात नहीं सुनी, वह उसी भाँति

चुपचाप पड़ी रही। गृहिणी जाती-जाती फिर रुक गई। उसने कहा "रजनी सुनती नहीं, मैं क्या कह रही हूँ। भैया······

रजनी गर्ज उठी "भैया—जब देखो भैया, भैया आ रहे हैं तो मैं क्या करूं ? छत से कूद पड़ूँ ? या पागल होकर बाल नोंच डालूँ ? भैया आरहे हैं या गाँव में शेर घुस आया है। घर भर ने जैसे धतूरा खा लिया हो। भैया आते हैं तो आवें ? इतनी आफ़त क्यों मचा रखी है।"

क्षण भर को गृहिणी अवाक हो रही, उसने सोचा भी न था कि रजनी भैया के प्रति इतना विद्रोह रखती है। भैया तो हर बार ही पत्र में रजनी की बात पूछता है। आने पर वह अधिक देर तक उसी के पास रहता है, बातें करता है, प्यार करता है। उसने क्रुद्ध दृष्टि से पुत्री की ओर देख कर कहा "भैया का आना इतना दुख रहा है रजनी।"

"भैया का आना तो नहीं, तुम लोगों की यह हाय-हाय जरूर दुख रही है।"

"क्यों दुख रही है री ?"

"भैया घर में आ रहे हैं तो इतनी उछल कूद क्यों हो रही है ?"

"भैया घर में आरहे हैं, तो हो नहीं ? क्या मेरे दस-पाँच हैं ? एक ही मेरी आँखों का तारा है। छः महीने में आरहा है। परदेस में क्या खाता-पीता होगा, कौन जाने। उसे बड़ियाँ बहुत भाती हैं, मेरे हाथ की कढ़ी बिना उसे रसोई सूनी लगती है, आलू की कचौरी का उसे बहुत शौक है, यह सब इसी से तो बना रही हूँ। फिर इस बार आ रहे हैं, उनके कोई दोस्त। किसी रईस के बेटे होंगे। उनकी खातिर न करूं ?"

"करो फिर। मेरा सिर क्यों खाती हो ?"

न सिर खाती हूँ, अरी तेरा सिर तो इन किताबों ने ही खा डाला। मां को ऐसे जवाब देती है। दोपहर होगया, पलंग से नीचे पैर नहीं देती। भैया के आने से पहिले माथे पर बल पड़ गये हैं।"

रजनी ने वक्र दृष्टि से माँ की ओर देखकर गुस्से में आकर छाती के नीचे का तकिया दीवार में दे मारा, मासिक पत्रिका फेंक दी। उसने तीखी वाणी से कहा—"मैं भी तो आई थी छः महीने में, तब तो इतनी धूम नहीं हुई थी।"

"तू बेटी की जात है---बेटी-बेटा क्या बराबर हैं ?"

"बराबर क्यों नहीं हैं ?"

"अब मैं तुझसे मुँहजोरी करूं कि काम ?"

"काम करो। बेटियां पेट से थोड़ी पैदा होती हैं। घूरे पर से उठा कर लाई जाती हैं। उनकी प्रतिष्ठा क्या, इज्जत क्या, जीवन क्या ? मर्द दुनियां में बड़ी चीज़ है। उनका सर्वत्र स्वागत है।" रजनी रूठ कर शाल को अच्छी तरह लपेट कर दूसरी ओर मुंह करके पड़ रही, गृहिणी बकझक करती चली गई।

(२)

उनका नाम था राजेन्द्र और उनके मित्र का दिलीप। दोनों मित्र एम० ए० फ़ाइनल में पढ़ रहे थे। ९ बजते-बजते दोनों मित्रों को लेकर फ़िटिन द्वार पर आ लगी। घर में जो दौड़-धूप थी वह और भी बढ़ गई। पिता को प्रणाम कर राजेन्द्र मित्र के साथ घर में आये। माता ने देखा तो दौड़ कर ऐसी लपकी जैसे गाय बच्चे को देख कर लपकती है। अपने पुत्र को छाती से लगा अश्रु मोचन किया। मुख, सिर, पीठ पर हाथ फेरा। पत्र न भेजने के, अम्मा को भूल जाने के, दो चार उलाहने दिये। राजेन्द्र ने सब के बदले में हँस कर कहा "देखो अम्माँ, इस बार मैंने खूब दूध मलाई

खाई है, मैं कितना तगड़ा हो आया हूँ। इस दिलीप को तो मैं योंही उठा कर फेंक सकता हूँ।

गृहिणी ने इतनी देर बाद पुत्र के, मित्र को देखा। दिलीप ने प्रणाम किया, गृहिणी ने आशीर्वाद दिया। इसके बाद उसने कहा, 'बैठक में चल कर थोड़ा पानी पी लो, पीछे और बातें होंगी।' राजेन्द्र ने पूछा "वह लोमड़ी कहाँ है—रजनी ?" वह ठहाका मारकर हँस दिया। "वह अपने कमरे में होगी।" माता ने उदासी से कहा। "आओ दिलीप मैं तुम्हें लोमड़ी दिखाऊँ।" कह कर उसने मित्र का हाथ खींच लिया, दोनों जीने पर चढ़ गये। गृहिणी रसोई में चली गई।

राजेन्द्र ने रजनी की कोठरी के द्वार पर खड़े होकर देखा, मुँह फुलाये कुर्सी पर बैठी है। घर के आनन्द-कोलाहल से उसे जो विरक्ति होरही थी वह अभी भी उसके मुख पर थी। अब एका-एक भाई और उसके मित्र को भीतर आते देख कर वह उठ खड़ी हुई। उसने मुस्कराकर भाई को प्रणाम किया।

राजेन्द्र ने आगे बढ़ कर उसके दोनों कंधे झकझोर डाले, फिर दिलीप से कहा—"दिलीप, यही हमारी लोमड़ी है। इसके सब गुण तुमको अभी मालूम नहीं। सोने में कुम्भकरण, खाने में भीमसेन, लड़ने में सूर्पनखा, और पढ़ने में बण्टाढ़ार। पर न जाने कैसे बी० ए० में पहुँच गई। इस साल यह बी० ए० फ़ाइनल में जा रही है। क्लास में सदा प्रथम होकर प्रोमोशन पाती रही है।"

दिलीप ने देखा एक चम्पक वर्णी सुकुमार किशोरी बालिका जिसका अल्हड़पन उसके अस्त-व्यस्त वस्त्रों और बालों से स्पष्ट हो रहा है, राजेन्द्र ने कैसी कदर्य व्याख्या की है। भाई बहिन का दुलार भी बड़ा दुर्गम है। वह शायद गाली-गुफ्ता धौल-धप्पा से ही ठीक ठीक अमल में लाया जा सकता है।

दिलीप आश्चर्य-चकित होकर रजनी को देख कर मुस्करा रहे थे। उन्हें कुछ भी बोलने की सुविधा न देकर राजेन्द्र ने रजनी की ओर देख कर कहा— "और यह महाशय, मेरे सहपाठी, कहना चाहिये मेरे शिष्य हैं, रसगुल्ला खिलाने और रसगुल्ले से भी मीठी गप्पें उड़ाने में एक हैं। जैसी तू पक्की लोमड़ी है वैसे ही यह पक्के गधे हैं। मगर यूनीवर्सिटी की डिगरी तो लिये ही जाते हैं खाने-पीने में पूरे राक्षस हैं। ज़रा बन्दोवस्त ठीक ठीक रखना।"

राजेन्द्र ही-ही कर हँसने लगा। फिर उसने दिलीप के कंधे पर हाथ रख कर कहा—"दिलीप, रज्जी हम लोगो की बहिन है, ज्यादा शिष्टाचार की जरूरत नहीं, बैठो और बेतकल्लुफ़ 'तुम' कह कर बातचीत करो।"

जब तक राजेन्द्र कहता रहा रजनी चुप चाप सिर नीचा किये सुनती रही, एकाध बार वह मुस्कराई भी, पर एक अपरचित युवक के सामने इतनी घनिष्ठता पसंद नहीं आई।

दिलीप ने अब कहना शुरू किया—"रज्जी, तुम्हारा परिचय पाकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। राजेन्द्र ने बार-बार तुम्हारी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। अब मुझे यहाँ खींच भी लाये। बड़े हर्ष की बात है कि तुम अपने कालेज में प्रथम रहती रही हो तुम नारी-रत्न हो, मैं तुम्हें देखकर बहुत प्रभावित हुआ हूँ।"

रजनी ने उनका उत्तर न देकर केवल मुस्करा भर दिया, फिर उसने भैया से कहा "जलपान नहीं हुआ न, यहीं ले आऊँ?" वह जाने लगी तभी दुलारी ने आकर कहा— "भैया, जलपान बैठक में तैयार है।"

राजेन्द्र ने कहा—"यहीं ले आ। तुम ठहरो रजनी, दुलारी ले आवेगी।"

तीनों के बैठ जाने पर राजेन्द्र ने कहा "रजनी अभी तक तुम अपने कमरे में क्या कर रही थीं ?"

"मैं विद्रोह कर रही थी।" रजनी ने तिरछी नजर से भाई को घूर कर और ओठों पर वैसी ही मुस्कान भर कर कहा।

"बाप रे, विद्रोह, जरा सोच समझ कर कोई बात कहना, दिलीप के पिता सी० आई० डी० के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं।"

"मैं तो खुला विद्रोह करती हूँ, गुप्त षडयन्त्र नहीं।"

"किसके विरुद्ध यह खुला विद्रोह है ?"

"तुम्हारे विरुद्ध।"

"मेरे विरुद्ध ? मैंने क्या किया है !"

"तुम पुरुष हो न ?"

"इस में मेरा क्या अपराध है, मुझे रजनी बनने में कोई उज्र नहीं, यदि तुम राजू बन जा सको।"

"मैं पुरुष नहीं बनना चाहती, पुरुषों के विरुद्ध विद्रोह किया चाहती हूँ।"

"किसलिये ?"

"इसलिये कि पुरुष क्यों सब बातों में सर्व-श्रेष्ठ बनते हैं, स्त्रियां क्यों उनसे हीन समझी जाती हैं ?"

दिलीप अब तक चुप बैठा था, अब वह जोश में आकर हथेली पर मुक्का मार कर बोला "ब्रेवो, रज्जी मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

"मगर मैं तुम दोनों का मुकाबिला करने को तैयार हूँ।"

"पुरुष श्रेष्ठ हैं और श्रेष्ठ रहेंगे।" राजेन्द्र ने पैतरा बदल कर नक़ली क्रोध और गम्भीरता से कहा। फिर उसने जरा हँस कर कहा "मगर यह विद्रोह उठा कैसे रजनी ?"

रज्जी ने नथुने फुला और भौहों में बल डाल कर कहा—"कल से अम्माँ ने और बाबू जी ने घर भर को सिर पर उठा

रक्खा है। पचास तो पकवान बनाये हैं, रात भर खट-खट, खट-खट रही। नौकर-चाकरों के नाक में दम। भैया आ रहे हैं, भैया आ रहे हैं। मैं भी तो आती हूँ, तब तो कोई कुछ नहीं करता। तुम पुरुष लोगों की सब जगह प्रधानता है, सब जगह इज्जत। मैं इसे नहीं सहन करूँगी।" रजनी ने खूब जोश और उबाल में आकर ये बातें कहीं।

सब कैफियत सुनकर राजेन्द्र हँसते हँसते लोट-पोट होगये। उन्होंने कहा, ठहर, मैं अभी तेरा विद्रोह दमन करता हूँ। वे दौड़ कर नीचे गये और क्षण भर ही में एक बड़ा सा बण्डल ला उसे खोल उसमें से साड़ियाँ, कङ्घे, लेवेन्टर, सेन्ट, क्रीम और न जाने क्या-क्या निकाल-निकाल कर रजनी पर फेंकने लगे। यह सब देख रजनी खिलखिला कर हँस पड़ी। विद्रोह दमन होगया।

दुलारी जलपान ले आई। तीनों बैठकर खाने लगे। राजेन्द्र ने कहा—"कहो विद्रोह कैसे मजे में दमन हुआ ?"

"वह फिर भड़क उठेगा।"

"वह फिर दमन कर दिया जायगा।"

"पर इस दमन में कितना गोला बारूद खर्च होता है ?"

"दमन करके शान भी कितनी बनती है !"

एक बार फिर तीनों प्राणी ठहाका मार हँस दिये। जलपान समाप्त होगया।

(३)

दिलीप बाबू और रजनी में बड़ी जल्दी पट गई। राजेन्द्र बाबू तो दिन भर गाँव का, जिमीदारी का, खेतों का गश्त लगाते और दिलीप महाशय लाइब्रेरी में आराम-कुर्सी पर रजनी की प्रतीक्षा में पड़े रहते। अवकाश पाते ही रजनी वहाँ पहुंच जाती। उसके पहुँचते ही बड़े जोर-शोर से किसी सामाजिक विषय

पर विवाद छिड़ जाता, पर सब से प्रधान विषय तो होता था स्त्री-स्वतन्त्रता। इस विषय पर दिलीप महाशय रजनी का विरोध नहीं करते थे, प्रश्रय देते थे और यदि बीच में राजेन्द्र आ पड़ते तो उनसे जब रजनी का प्रबल वाग्युद्ध छिड़ता तो दिलीप सदैव रजनी ही को बढ़ावा देते रहते। तब क्या राजेन्द्र दकियानूसी विचारों के थे? नहीं, वे तो केवल विवाद के लिए विवाद करते थे। भाई-बहिन में प्रगाढ़ प्रेम था। रजनी को राजेन्द्र प्राण से बढ़कर मानते। यह बात दिलीप के मन में घर कर गई। राजेन्द्र एक सच्चे, उदार और पवित्र विचारों के युवक थे, और रजनी एक चरित्रवती-सतेज बालिका थी। शिक्षा से उसका हृदय उत्फुल्ल था, उसके उज्जवल मस्तक पर प्रतिभा का तेज था, वह जैसे भाई के सामने निस्संकोस भाव से आती-जाती, हँसती, रूठती, भागती, दौड़ती, बहस करती और बिगड़ती थी, उसी भाँति दिलीप के सामने भी। वह यह बात भूल गई थी कि दिलीप कोई बाहर का आदमी है।

परन्तु दिलीप के रक्त की उष्णता बढ़ रही थी। उसकी आँखों में गुलाबी रङ्ग आ रहा था। वह अधिक से अधिक रजनी के निकट रहना, उसे देखना और उसकी बातें सुनना चाहता था। उसकी यह अनुराग और आसक्ति रजनी पर तुरन्त ही प्रकट हो गई। वह चौकन्नी हो गई। वह एक योद्धा-प्रकृति की लड़की थी। ज्योंही उसे यह पता चला कि भैया के यह लम्पट मित्र प्रेम की लहर में आ गये हैं, उसने उन्हें जरा ठीक तौर पर पाठ पढ़ाने का निश्चय कर लिया। कॉलेज और बोर्डिङ्ग में रहने वाले छात्रों की लोलुप और कामुक प्रकृति का उसे काफी ज्ञान था। वह स्त्री-जाति की रक्षा के प्रश्न पर, उसकी स्वाधीनता के प्रश्न पर, विचार कर चुकी थी। वह इस निर्णय पर पहुँच चुकी थी कि स्त्रियों को

अपने सम्मान की रक्षा के लिए मर्दों का आसरा नहीं तकना चाहिए। वह जब भाई से इस विषय पर जोर-शोर से विवाद करती थी, तब आवेश में उसका मुँह लाल हो जाता था। राजेन्द्र को तो उसे इस प्रकार उत्तेजित करने में आनन्द आता था, किन्तु दिलीप महाशय अकारण ही उसका समर्थन करते-करते कभी-कभी तो अपना व्यक्तित्व ही खो बैठते थे।

रजनी ने उन महाशय को प्रेम का खरा सबक़ सिखाने का पक्का इरादा कर लिया। ये स्कूल कॉलेज के गुण्डे लड़कियों को मिठाई से ज्यादा कुछ समझते ही नहीं। देखते ही उनकी लार टपक पड़ती है, वे निर्लज्ज की भाँति उनकी मिलनसारी, उदारता और कोमलता से लाभ उठाते हैं। रजनी होठ काटकर यह सोचने लगी कि आख़िर ये पुरुष स्त्रियों के अपमान का ऐसा साहस ही किस लिये करते हैं। स्त्रियों के सामने जमनास्टिक की कसरत सी करना तो इन लफङ्गों का केवल नाटक है। रजनी देख चुकी थी कि उसे अपने कालेज-जीवन में इन उद्दण्ड युवकों से कितना कष्ट भोगना पड़ा था—वे पीठ पीछे लड़कियों के विषय में कितनी मनमानी अपमान-जनक बातें किया करते हैं। उनकी मनोवृत्तियाँ कितनी गन्दी होती हैं। उसने पहचान लिया कि भैया के मित्र भी उसी टाइप के हैं। और उनकी अच्छी तरह मरम्मत करके उनके इस टपकते हुए प्रेम को हवा कर देने की उसने प्रतिज्ञा कर ली। उसने अपनी सहायता के लिए घर की युवती दासी दुलारी को मिलाकर सब प्रोग्राम ठीक-ठाक कर लिया।

(४)

उस दिन राजेन्द्र पिता के साथ देहात में जमींदारी की कुछ जरूरी झंझट सुलझाने गये थे। घर में गृहिणी, नौकर-नौकरानी ही थीं; गृहिणी पुत्री को इतना स्वतन्त्र देखकर बड़बड़ाती तो थी,

पर कुछ रोक-टोक नहीं करती थी। दिलीप के साथ रजनी निस्स-ङ्कोच बातें करती है, बैठी रहती हैं, ताश खेलती है, चाय पीती है, इन सब बातों को उसका मन सहन कर गया था। वह साधारण पढ़ी-लिखी स्त्री थी, पर पुत्री ने कालेज की शिक्षा पाई है यह वह जानती थी, डरती भी थी। फिर रजनी सुनती किसकी थी।

दिलीप को राजेन्द्र ने साथ ले जाने की बहुत जिद की थी; पर वे बहाने बनाकर नहीं गये। जब वे बहाने बना कर असमर्थता दिखा रहे थे तब रजनी उनकी ओर तिरछी दृष्टि करके मुस्कुरा रही थी। उसका कुछ दूसरा ही अर्थ समझ कर दिलीप महाशय आनन्द-विभोर हो रहे थे। प्रगल्भा रजनी अपनी इस विजय पर मन ही मन हँस रही थी।

दिन भर मिस्टर दिलीप ने बेचैनी में व्यतीत किया। उस दिन उन्होंने अनेक पुस्तकों को उलट-पुलट डाला। मन के उद्वेग को शमन करने और संयत रहने के लिए उन्होंने बड़ा ही प्रयास किया। अन्ततः उन्होने खूब सोच-समझ कर रजनी को एक पत्र लिखा।

रजनी उस दिन उनका दिल जलाने को दो-चार बार उनके कमरे में घूम गई। एकाध बार वचन-बाण भी मारे, मुस्कुराई भी। बिल्ली जिस प्रकार अपने शिकार को मारने से प्रथम खिलाती है, उसी भाँति रजनी ने भी महाशय जी को खिलाना शुरू कर दिया।

दुलारी बड़ी मुँहफट और ढीठ औरत थी। रजनी का सङ्केत पा वह जब-तब चाहे जिस बहाने उनके कमरे में जा एकाध फुल-झड़ी छोड़ आती। एक बार उसने कहा—"आज भैया नहीं हैं, इसलिए जीजी ने कहा है आपकी खातिरदारी का भार उन पर है। सो आप सङ्कोच न करें जिस चीज़ की आवश्यकता हो कहिए मैं हाजिर करूँ, जीजी का यही हुक्म है।"

मिस्टर दिलीप ने मुस्कुरा कर कहा—"तुम्हारी जीजी इस तुच्छ परदेशी का इतना ख्याल करती है— इसके लिए उन्हें धन्यवाद देना।"

दुलारी ने हँसकर और साड़ी का छोर आगे बढ़ाकर कहा "बाबू जी हम गँवार दासी यह बात नहीं जानतीं, यह तो आप ही लोग जानें—कहिए तो मैं जीजी को बुला लाऊँ आप उन्हें जो कहना हो कहिए।"

दिलीप हँस पड़े। उन्होंने कहा—"तुम बड़ी सुघड़ औरत हो।"

दुलारी ने साहस पाकर कहा—"बाबूजी आप हमें अपने घर ले चलिए, बहूजी की खिदमत करके दिन काट दूँगी।"

दिलीप महाशय ने जोर से हँसकर कहा—"मगर बहूरानी भी तो हों, अभी तो हम ही अकेले हैं।" इस पर दुलारी ने कपार पर भौंहें चढ़ाकर कहा—बाप रे, गजब है, आप बड़े लोगों की भी कैसी बुद्धि है। भैया भी क्वाँरे, जीजी भी क्वाँरी, आप भी क्वांरे।"

भूमिका आगे नहीं चली। गृहिणी ने दुलारी को बुला लिया। रजनी ने सब सुना तो मुस्कुरा दिया।

दोपहर की डाक आई। दुलारी ने पूछा, जीजी की कोई चिट्ठी है। दिलीप ने साहस पूर्वक मासिक पत्रिकाओं तथा चिट्ठियों के के साथ अपनी चिट्ठी भी मिला कर दुलारी के हाथ भीतर भेज दी और अब वह धड़कते कलेजे से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे।

(५)

पत्र को पढ़कर रजनी पहिले तो तनिक हँसी। फिर तुरन्त ही क्रोध से थर थर कांपने लगी। पत्र में कवित्व पूर्ण भाषा में प्रेम के ज्वार का वर्णन किया गया था। एकाएक उनके मन में जो

प्रेम रजनी के लिये उदय हुआ और वे रजनी के प्रति कितने आकृष्ट हुए यह सब उसमें लिखा था। वे रजनी के बिना जीवित नहीं रह सकेंगे। विरक्त हो जांयगे या जहर खा लेंगे, यह भी लिखा था। अन्त में हाथ जोड़ कर सब बातें गोपनीय रखने की प्रार्थना भी की थी।

पत्र पढ़ने पर रजनी के होठ घृणा से सिकुड़ गये। वह सोचने लगी—यह पुरुष जाति जो अपने को स्त्रियों से जन्मतः श्रेष्ठ समझती है, कितनी पतित है। इन पढ़े लिखे लोगों में भी आत्म-सम्मान नहीं। यह अपनी ही दृष्टि में गिरे हुए हैं। रजनी ने पत्र को फेंक दिया! वह पलङ्ग पर लेट कर चुप-चाप बहुत सी बातों पर विचार करने लगी।

सन्ध्या होने पर दिलीप महाशय आसामी मूँगे का कुर्ता पहिन घूमने को निकले। रजनी ने देखा उनका मुंह सूख रहा है, और आँखें ऊपर नहीं उठ रहीं हैं। वे अपराधी की भांति चुपचाप खिसक जाना चाह रहे हैं।

रजनी ने पुकार कर कहा "कहां चले दिलीप बाबू, अभी तो बहुत धूप है संध्या को ज़रा जल्दी लौटियेगा, हम लोग सिनेमा चलेंगे।"

रजनी की बात सुनकर ये रजनी के भाई के मित्र एम० ए० पास सभ्य महाशय ऐसे हरे होगये जैसे बर्षा के छींटे पड़ने से मुर्झाए हुए पौधे खिल जाते है। उन्होंने एक बांकी अदा से खड़े होकर ताकते हुए कुछ कहा। उसे रजनी ने सुना नहीं, वह अपना तीर फेंक कर चली गई।

(६)

रजनी ने विषम साहस का काम किया। दिलीप महाशय झटपट ही लौट आये। आकर उन्होंने उत्साहपूर्ण वाणी में रजनी

से कहा रज्जी, मैं रिज़र्व बॉक्स के दो टिकट खरीद लाया हूँ, रजनी ने घृणा के भाव को दबा कर हँस दिया।

भोजन के बाद रजनी और दिलीप दोनों ही सिनेमा देखने चल दिये। गृहिणी ने कुछ भी विरोध न किया। सिनेमाघर निकट ही था, अतः पैदल ही रजनी चल दी। रास्ते में बातचीत नहीं हुई, मालूम होता है दोनों ही योद्धा अपने-अपने पैतरे सोच रहे थे। रजनी इस उद्धत युवक को ठीक कर देना चाहती थी और दिलीप प्रेम के दलदल में बुरी तरह फँसे थे। रात भर और दिन भर में जो-जो बातें उन्होंने सोची थीं वे अब याद नहीं आ रही थीं। कैसे कहाँ से शुरू किया जाय; यही प्रश्न सम्मुख था। पत्र पढ़कर भी रजनी बिगड़ी नहीं, झगड़ा फोड़ भी नहीं किया, उल्टे अकेली सिनेमा देखने आई है। अब फिर सन्देह क्या और सोच क्या, अब तो सारा प्रेम उँडेल देना चाहिये। सुविधा यह थी कि रजनी अङ्गरेज़ी पढ़ी स्त्री थी। शेक्सपियर, गेटे टेनीसन और बायरन के भावपूर्ण सभी प्रेम-सन्दर्भों को समझा सकती थी। पर कठिनाई तो यह थी कि शुरू कैसे और कहाँ से किया जाय।

रजनी ने कनखियों से देखा, दिलीप महाशय का मुँह सूख रहा है, पैर लड़खड़ा रहे हैं। रजनी ने मुस्करा कर कहा "क्या आपको बुखार चढ़ रहा है मिस्टर दिलीप? आपके पैर डगमगा रहे हैं, मुँह सूख रहा है।" दिलीप ने बड़ी कठिनता से हँस कर कहा "नहीं-नहीं, मैं तो बहुत अच्छा हूं!"

"अच्छी बात है।" कह कर रजनी ने लम्बे-लम्बे डग बढ़ाये।

बॉक्स में बैठ कर भी कुछ देर दोनों चुप रहे, खेल शुरू हो-गया था, शायद खेल कोई प्रसिद्ध न था, इस लिये भीड़-भाड़ बिल्कुल न थी। बॉक्स और रिज़र्व की तमाम सीटें खाली पड़ी

थीं। अपने चारों ओर सन्नाटा देख कर पहले तो रजनी जरा घबराई, परन्तु फिर साहस कर के वह अपनी कुर्सी जरा आगे खींच कर बैठ गई। कौन खेल है दोनों कुछ क्षण इसी में डूबे रहे, परन्तु थोड़ी ही देर में दोनों को अपना-अपना उद्देश्य याद आगया। खेल से मन हटा कर दोनों, दोनों को कनखियों से देखने लगे। एकाध बार तो नजर बचा गये, पर कब तक ? अन्त में एक बार रजनी खिलखिला कर हँस पड़ी। उसे हँसी देख दिलीप भी हँस पड़े, परन्तु उसकी हँसी में फीकापन था।

रजनी तुरन्त ही सम्हल गई। उसने कहा—"क्यों हँसे मिस्टर दिलीप ?"

"और तुम क्यों हँसी रज्जी ?"

दिलीप ने ज़रा साहस करके कुर्सी आगे खिसकाई। रजनी सम्हल कर बैठ गई। उसने स्थिर अकम्पित वाणी में कहा "मैं तो यह सोच कर हँसी कि तुम मन में क्या सोच रहे हो वह मैं जान गई ?"

"सच, रज्जी, तो तुमने मुझे क्षमा कर दिया ?" वे आवेश में आकर खड़े होकर रजनी की कुर्सी पर झुके। उन्हें वहीं रोक कर रजनी ने कहा "क्षमा करने में तो कुछ हर्ज नहीं है दिलीप बाबू, मगर यह तो कहो कि क्या तुम उसी ख़त की बात सोच रहे हो ? सच कहो, तुमने जो आज ख़त में लिखा है क्या वह सच है ?"

दिलीप घुटनों के बल धरती पर बैठ गये, जैसा कि वे बहुधा सिनेमा में देख चुके थे। उन्होंने भावपूर्ण ढङ्ग से दोनों हाथ पसार कर कहा—"सचमुच, रज्जी, मैं तुम्हें प्राणों से बढ़ कर प्यार करता हूँ।"

"प्राणों से बढ़ कर ? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है दिलीप बाबू। इस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता।"

"रज्जी विश्वास करो, तुम कहो तो मैं अभी यहाँ से कूदकर अपनी जान दे दूँ।"

"इससे क्या फ़ायदा होगा मिस्टर दिलीप, उल्टे पुलिस मुझे हत्या करने के जुर्म में गिरफ्तार कर लेगी। परन्तु मुझे तो यह ताज्जुब है कि तुम दो ही दिन में मुझे इतना प्रेम कैसे करने लग गये ?"

"मैं तो पहली नज़र ही में तुम पर मर मिटा था।"

"तुमने क्या किसी और स्त्री को भी प्यार किया है ?"

"नहीं-नहीं, कभी नहीं, इस जीवन में सिर्फ तुम्हें।"

"क्यों, क्या तुम्हें कोई स्त्री मिली ही नहीं ?"

"तुम सी एक नहीं, रज्जी, ।"

"यह तो और भी आश्चर्य की बात है, कलकत्ते में, बनारस में, इलाहाबाद में, लखनऊ में, पटने में, कहीं भी मुझ सी कोई स्त्री है ही नहीं ?"

"नहीं-नहीं, रज्जी, तुम स्त्री-रत्न हो।"

"जापान में, चीन में, इङ्गलेण्ड में, जर्मनी में, अमेरिका में, अरे! तुम तो सब देश की स्त्रियों से वाकिफ होंगे ?"

"रज्जी, तुम सब में अद्वितीय हो।"

मुझे इसमें बहुत शक है मिस्टर दिलीप; एक काम करो। अभी यह प्रेम मुल्तवी रहे। तुम एक बार हिन्दुस्तान के सब शहरों में घूम फिर कर ज़रा अच्छी तरह देख-भाल आओ। मेरा तो ख्याल है कि तुम्हें मुझ से अच्छी कई लड़कियां मिल जावेंगी।

दिलीप महाशय ने ज़रा जोश में आकर कहा—"रज्जी, तुम्हारे सामने दुनिया की स्त्री मिट्टी हैं।"

"मगर यह तुम्हारा अपना वाक्य नहीं मालूम देता, यह तो पेटेन्ट वाक्य है। देखो मैं ही तुम्हें दो-तीन लड़कियों के पते

बताती हूँ। एक तो इलाहाबाद के क्रास्थवेट में मेरी सहेली है। दूसरी ...... ।"

दिलीप ने बात काटते हुए कहा "प्यारी रज्जी, क्यों दिल को जलाती हो, इस दास पर रहम करो। मैं तुम्हारा बेदाम का चाकर हूँ। अपने नाजुक और कोमल हाथों का ..... ।"

कहते कहते उन्होंने रजनी के हाथ पकड़ने को हाथ बढ़ाया। इसी बीच रजनी ने तड़ाक से एक तमाचा जो महाशय के मुँह पर जड़ा तो उजाला हो गया पैरों की जमीन निकल गई। वे मुँह बाये वैसे ही बैठे रह गये।

रजनी ने स्थिर गम्भीर स्वर में कहा "मिस्टर दिलीप, मैं तुम्हारी ग़लती सुधारना शुरू करती हूँ। देखो, अब तो तुम समझ गये कि ये हाथ उतने नाजुक और कोमल नहीं है जितने तुम समझे बैठे हो। कहो तुम्हारी आंख बची या फूटी? मैंने ज़रा बचा कर ही तमाचा जड़ा था। अब दूसरी ग़लती भी मैं सुधारती हूँ। देखो सामने जो वह यूरोपियन लड़की बैठी है वह मुझसे हज़ार दर्जे अच्छी है या नहीं। तुम दुनिया की कहते हो, मैं तुम्हें यहीं दिखाये देती हूँ; कहो, है या नहीं?"

मिस्टर दिलीप की सिट्टी गुम हो रही थी, वे चेष्टा करने पर भी नहीं बोल सके। रजनी ने, धीमे किन्तु कठोर स्वर में कहा— "बोल रे अधम, वञ्चक, लम्पट, पढ़े-लिखे गधे, मेरी बात का जवाब दे, वरना अभी चिल्ला कर सब आदमियों को मैं इकट्ठा करती हूँ।"

दिलीप ने हाथ जोड़ धीमे स्वर में कहा—"मुझे माफ़ कीजिये श्रीमती रजनी देवी, मुझे माफ़ कीजिये।"

रजनी ने घृणा से होठ सिकोड़ कर कहा—"अरे, तुम्हारा तो स्वर ही बदल गया, और टोन भी। अब तुम मुझे 'तुम' कह

कर नहीं पुकारोगे ? 'रज्जी' नहीं कहोगे ? बदमाश, तुम मित्र की बहिन की प्रतिष्ठा नहीं रख सके ? तुम जैसे जानवर किसी भले घर में जाने योग्य, किसी की बहू-बेटी से खुल कर मिलने योग्य हो सकते हैं ?" रजनी ने यह कह कर दिलीप के दोनों कान पकड़ कर खींच लिये और तड़ातड़ ५-७ तमाचे उसके मुँह पर रसीद करके कहा "कहो, प्रेम अब कहां है ? मुझ सी लड़की कहीं दुनिया में है या नहीं ?"

"रजनी देवी, मैं आप की शरण हूँ।"

"अच्छा, अच्छा ! मगर तुम तो शायद मेरे बिना जी भी नहीं सकोगे ! जाओ, कुयें, नदी में डूब मरो ! क्या तुम भैया को मुँह दिखा सकोगे ?" दिलीप चुपचाप धरती पर बैठे रहे।

रजनी ने लात मार कर कहा "बोल रे बदमाश बोल !"

दिलीप ने गिड़गिड़ा कर कहा "धीरे, रजनी देवी, लोग सुन लेंगे तो यहाँ भीड़ हो जायगी।"

रजनी ने कहना शुरू किया "कुछ पर्वाह नहीं। हाँ, तुम क्या चाहते हो कि स्त्रियों को तुम इसी प्रकार फुसलाओ। वे या तो पर्दे में घुग्घू बनी बैठी रहें, और यदि स्वाधीन वायु में जीना चाहें तो तुम्हारे जैसे साँपों से वे डसी जायँ ? क्यों ? भैया के साथ विवाद में तुम सदा मेरा पक्ष लेते थे सो इसी लिये ? कहो ? तुम समझते हो भैया अनुदार हैं, नहीं जानते उन्होंने मेरा, मेरी आत्मा का निर्माण किया है। यह उन्हीं का साहस था कि तुम्हें अकपट भाव से उसी भाँति मेरे सम्मुख उपस्थित किया जिस भाँति वे स्वयं मेरे सम्मुख आते हैं। पर तुम नीच लम्पट दो दिन में ही बहिन के समान अपने मित्र की बहिन से प्रेम करने लगे ? कहो, तुम्हारे घर कोई बहिन है या नहीं ? इसी भाँति तुम उसे पृथ्वी की अद्वितीय स्त्री कहते हो ?"

दिलीप महाशय के शरीर में रक्त की गति रुक रही थी, बोल नहीं निकलता था। उन्होंने रजनी के पैर छूकर कहा—"आह, चुप रहो, कोई सुन लेगा……।"

रजनी क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति कहती ही गई—

"अरे जब तक तुम जैसे अपवित्र लुच्चे युवक हैं स्त्रियाँ कभी निर्भय नहीं हो सकतीं। कहो—क्या हमें संसार में हँसने, बोलने, घूमने, फिरने, अमोद-प्रमोद करने की जगह ही नहीं, हम चोर की भाँति लुक-छिपकर, पापी की भाँति मुँह ढँककर दुनिया में जीएँ। और यदि ज़रा भी आगे बढ़ें तो तुम जैसे लफंगे उसका गलत अर्थ लगा कर अपनी बासनाएँ प्रकट करें? याद रक्खो, स्त्रियों को निर्भय रहने के लिये तुम जैसे ख़तरनाक नर-पशुओं का न रहना ही अच्छा है। जानते हो—जब मनुष्यों ने वनो को साफ़ करके सभ्यता विस्तार की थी तब वनचर खूँखार पशुओं को सवंश नाश कर दिया था—उनके रहते वे निर्भय नहीं रह सकते थे। सच्ची सभ्यता वह है जहाँ स्त्रियाँ निर्भय हैं—वनचर ख़ूँख़्वार जानवरों के रहते मनुष्य निर्भय नहीं रह सकते थे और नगरचर गुण्डों के रहते स्त्रियाँ निर्भय नहीं रह सकतीं। इसलिये मैं तुम्हारे साथ वही सलूक किया चाहती हूँ जो मनुष्यों ने वनचर पशुओं के साथ किया था।"

इतना कहकर रजनी ने एकाएक एक बड़ा सा छुरा निकाल लिया।

छुरे को देखते ही दिलीप की घिग्घी बँध गई। वह न चिल्ला सकते थे, न भाग सकते थे, उनकी शक्ति तो जैसे मर गई थी। उन्होंने रजनी के पैरों में सिर डाल कर मुर्दे के से स्वर में कहा—"क्षमा कीजिये देवी, आप इस बार इस पशु को क्षमा कीजिये।"

रजनी ने धीरे गम्भीर स्वर में कहा--"क्षमा मैं तुम्हें कर सकती हूँ परन्तु तुम एक खतरनाक जानवर हो, जिन्दा रहोगे तो जाने कितनी बहिनों को ख़तरे में डालोगे।"

"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जीवन में प्रत्येक स्त्री को बहिन के समान समझूंगा।"

"तुम्हारी प्रतिज्ञा पर मुझे विश्वास नहीं।"

"मैं क़सम खाता हूँ।"

"किसकी ?"

"आपके चरणों की।"

"धुत् खबरदार ! इतना साहस न करना।"

"परमेश्वर की।"

"नास्तिक ! तुम्हारे परमेश्वर का भरोसा।"

"अपनी माता की, पिता की।"

"नहीं, मैं नहीं विश्वास करती कि तुम माता-पिता की इज्जत करते होगे।"

"आह देवी, इतना पतित न समझो।"

"तुम बड़े पतित हो।"

"तब जिसकी कहो उसकी क़सम खाऊँ।"

"अपने प्राणों की क़सम खाओ।"

"मैं अपने प्राणों की क़सम खाता हूँ कि भविष्य में मैं बहिनों के प्रति कभी अपवित्र भाव नहीं आने दूंगा।"

"अच्छी बात है, फ़िलहाल मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ, कुर्सी पर बैठ जाओ।" रजनी ने कठिनाई से अपने होठों की कोर में उमड़ती हँसी को रोका।

जान बची लाखों पाये, दिलीप महाशय धम से कुर्सी पर बैठ गये। खेल चल रहा था, बाजे बज रहे थे, कोई गाना हो रहा

था, स्क्रीन में धमा-चौकड़ी हो रही थी, इस धूम-धाम ने और पीछे की सीट के सन्नाटे ने इस 'रजनी-काण्ड' की ओर किसी का भी ध्यान आकृष्ट नहीं होने दिया। थोड़ी देर में इन्टरवेल हो गया, बत्तियाँ जल गईं। प्रकाश हो गया।

रजनी ने कहा—"मैं घर जाना चाहती हूँ, दिलीप बाबू, आप चाहें तो यहीं ठहर सकते हैं।"

दिलीप ने आज्ञाकारी नौकर की भाँति खड़े होकर कहा—"चलिये फिर!"

रजनी चुपचाप चल दी।

(७)

दूसरे दिन तमाम दिन मिस्टर दिलीप कमरे से बाहर नहीं निकले, सिर-दर्द का बहाना करके पड़े रहे! भोजन भी नहीं किया। अभी उन्हें यह भय बना हुआ था कि उस बाघिनी ने यदि राजेन्द्र से कह दिया तो ग़ज़ब हो जायगा।

सन्ध्या समय रजनी ने उनके कमरे में जाकर देखा कि वे सिर से पैर तक चादर लपेटे पड़े हैं। रजनी ने सामने की खिड़की खोल दी और एक कुर्सी खींच ली। उस पर बैठते हुये उसने कहा—"उठिये मिस्टर दिलीप, दिन कब का निकल चुका और अब छिप रहा है।"

दिलीप ने सर निकाला—उनकी आँखें लाल हो रही थीं, मालूम होता था, खूब रोये हैं। उन्होंने भर्राए हुए गले से कहा—"मैं आपको मुँह नहीं दिखा सकता, मैं अपनी प्रतिष्ठा की चर्चा करने का साहस नहीं कर सकता पर आप अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये वचन दीजिये कि आप घर में किसी से भी यह बात नहीं कहेंगी।"

"मैं तो तुम्हें क्षमा कर चुकी दिलीप।"

"यह कहिए किसी से भी नहीं कहेंगीं।"

"अच्छा, नहीं कहूँगी, उठो।"

"किसी से भी नहीं।"

"किसी से भी नहीं।"

"भैया से भी नहीं।"

"अच्छा, अच्छा, भैया से भी नहीं।"

"और उस दुष्टा दुलारी से भी नहीं।"

रजनी हँस पड़ी, बोली—"अच्छा, उससे भी नहीं। अब उठो।"

"वह जब मुझे देखती है मुँह फेर कर हँस देती है।"

"वह शायद समझती है, तुम जैसा पुरुष पृथ्वी पर और नहीं हैं।"

"अब जब आप क्षमा कर चुकीं; फिर ऐसी बात क्यों कहती हैं।"

रजनी हँस कर चल दी।

दूसरे दिन राजेन्द्र ने आने पर देखा कि दिलीप अपना बोरिया-बसना बाँधे जाने को तैयार बैठे हैं। मुँह उतरा हुआ है और वे बुरी तरह घबराये हुए हैं। राजेन्द्र ने हँस कर कहा—"मामला क्या है? बुरी तरह परेशान हो रहे हो।"

"तार आया है माता जी सख्त बीमार हैं। जाना पड़ रहा है।"

"देखें कैसा तार है! अभी तो २-४ दिन भी नहीं हुये।"

दिलीप तार के लिये टाल-टूल करके घड़ी देखने लगे। बोले—"अभी ४० मिनिट हैं गाड़ी मिल जायगी।"

दिलीप के जाने की एकाएक तैयारी देखकर राजेन्द्र परेशान से हो गये। उन्हें दिलीप की टाल-टूल से सन्देह हुआ कि शायद घर में कोई कुछ अप्रिय घटना हुई है।

उन्होंने रजनी को बुलाकर कहा—"रजनी, दिलीप जा रहे हैं मामला क्या है?"

रजनी ने आकर सिर से पैर तक दिलीप को देखकर कहा "कह नहीं सकती, दुलारी को बुलाती हूँ उसे शायद कुछ पता हो।"

दिलीप ने नेत्रों में भिक्षा याचना भरकर रजनी की ओर देखा। उसे देखकर रजनी का दिल पसीज गया। उसने आगे बढ़कर कहा "क्यों जाते हो दिलीप बाबू!"

दिलीप की आँखें भर आईं। उन्होंने झुककर रजनी के पैर छुए और कहा "जीजी, सम्भव हुआ तो मैं फिर जल्द ही आऊँगा।" उन्होंने घड़ी निकाली और राजेन्द्र से कहा "ज़रा एक ताँगा मँगा दो।"

राजेन्द्र ने कहा "तब जाओगे ही।" वे ताँगे के लिये कहने बाहर चले गये। रजनी कुछ क्षण चुप खड़ी रही, फिर उसने कहा" दिलीप बाबू, कहिये मुझसी कोई स्त्री दुनिया में है या नहीं?"

दिलीप ने एक बार सिर से पैर तक रजनी को देखा, फिर उससे कहा "अब तुम मुझे चाहे मार ही डालो, पर रज्जी तुम सी एक भी औरत दुनिया में न होगी।"

इस बार फिर से 'तुम' और 'रज्जी' का घनिष्ट सम्बोधन पाकर रजनी की आँखों से टप टप दो बूंद आँसू गिर गये। वह जल्दी से वहाँ से घर के भीतर चली गई।

ताँगा आ गया। सामान रख दिया। गृहिणी के पैर छूकर ज्योंही दिलीप बाबू ड्योढ़ी पर पहुँचे तो देखते क्या हैं कि रजनी टीके का सामान थाल में धरे रास्ता रोके खड़ी है। दिलीप और राजेन्द्र रुक कर रजनी की ओर देखने लगे। रजनी के पास ही दुलरिया भी अपनी गहरी लाल रङ्ग की टसरी साड़ी पहने खड़ी थी। उसके हाथ में थाल देकर रजनी ने दिलीप के माथे पर रोरी-दही का टीका लगाया, चावल सिर पर बखेरे और दो तीन दाने

चने चबाने को दिये। इसके बाद उसने मुट्ठी भर बताशे दिलीप के मुख में भर दिये और वह खिलखिला कर हँस पड़ी।

दिलीप न हँस सके। उन्होंने उमड़ते हुए आँसुओं के बेग को रोककर फिर झुककर रजनी के पैर छुए। इसके बाद मनीबेग निकाल कर थाल में डाल दिया।

राजेन्द्र ने कहा "अरे दिलीप, तुम रजनी की इस ठगविद्या में आगये! मुझे भी यह इसी तरह ठगा करती है।"

दिलीप ने कहा "बकवाद मत करो, चुपचाप टिकिट और ताँगे के पैसे निकालो।"

इसी बीच दुलरिया ने जल से भरा लोटा आगे बढ़ाकर कहा "भैया, सवा रुपया इसमें भी तो डालो।"

क्षण भर दिलीप सकपका गए। उन्होंने अपनी अँगूठी उतार जलपात्र में डाल दी। दुलरिया ने मृदुमन्द मुस्कान होठों पर बखेर कर कहा—"हम का लेचलो भैया, दुलहिन की सेवा करेंगी।

दिलीप कुछ जवाब न देकर झपट कर भागे और राजेन्द्र का हाथ पकड़ कर ताँगे में जा बैठे।

दुलारी ने एक बार हँसती आँखों से रजनी को देखा, वह रो रही थी।

चिट्ठी की दोस्ती

मिस्टर लाल ने इसी उम्र में तमाम दुनिया खूँद मारी थी। इसी साल वे बैरिस्टर हो कर विलायत आये थे। घर के रईस, दिल के बादशाह, तबीयत के आज़ाद आदमी थे। तीन साल के लम्बे अर्से के बाद जो वे आये तो देखते ही तबीयत हरी हो गई। आते ही उन्होंने जो बातों का रङ्ग बाँधा, देश विदेश की आप बीती सुनानी शुरू की, एक से एक बढ़ कर बातें, कहाँ वे बेवकूफ़ बने, कहाँ ठगे गये, कहाँ तिकड़म भिड़ाई, कहाँ फँसे आदि जो बातें उन्होंने बयान कीं, तो सुनकर तबीयत फड़क गई। तीन-चार दिन चुटकी बजाते गुजर गये। मिस्टर लाल का मेरे घर आना और मेरे साथ रहना मेरे लिये ग़नीमत था। आप तो जानते ही हैं कि मैं अकेला दुनियां भर की सब आशाओं से रहित ऐसा सूखा ठूंठ हूँ जिसका सारा रस सूख गया हो, सारे पत्ते झड़ गये हों, सारी शोभा लुट चुकी हो, न कोई मेरा दोस्त–मुलाक़ाती, न सगे न सम्बन्धी, दोस्त-मुलाक़ाती उसके होते हैं, जिससे लोगों के काम सरते हैं, मतलब निकलते हैं, मुझसे किसी का क्या काम सर सकता है। न किसी के लेने में, न देने में, इसलिये

मेरे पास कोई क्यों आने लगा ? महीनों के महीने बीत जाते हैं, मैं अकेला अपने घर में उदास, सुस्त बैठा कुछ सोचता रहता हूं। सोचने की बहुत-सी बातें नहीं हैं, सिर्फ यही कि मनुष्य जीता क्यों है ? काम-काज के झंझट में पिसता क्यों है। पाप-पुण्य के जञ्जाल में उलझता क्यों है ? अपनी और पराई दुनिया बनाता क्यों हैं ? कोई २५ वर्ष हुए—जब से मन्नू की माँ मरी है; ऐसा मालूम होता है कि संसार में हमेशा सन्ध्या काल ही रहता है, प्रभात कभी होता ही नहीं; परन्तु एम० ए० फ़ाइनल करने के बाद जब एक ही हफ़्ते बाद मुन्ना भी एकाएक चल बसा, तब से रात ही रात नज़र आती है, जीवन की इस अँधेरी रात में सूरज और चाँद, टिमटिमाते दिये और इष्टमित्र सब दूर के चम-चम चमकते तारे से प्रतीत होते हैं। मैं मशीन की भाँति कालेज से घर और घर से कालेज गत २५ बरस से जाता-आता रहा हूँ। और भी कहीं दुनिया है, यह मैं अब भूल-सा गया हूँ।

परन्तु मिस्टर लाल की बात दूसरी है, उनके सीने में एक धड़कता हुआ हृदय है, जीवन उनके लिये आशा और उल्लास से परिपूर्ण एक ज्योति की लौ है, इसीसे उनके आने से मुझ में भी जैसे जीवन का कुछ स्पन्दन आ गया है, वे जब बातें करते-करते खिलखिला कर हँसते हैं तब मेरे भी सूखे होठों में हँसी की एक अनभ्यस्त रेखा फूट पड़ती है और मेरे गालों की झुर्रियां जैसे मुखरित हो उठती हैं।

लाल ने जब प्रेम के एक से एक बढ़ कर अनोखे साहसपूर्ण क़िस्से सुनाये, तो उन्हें सुन-सुन कर मन कैसा कुछ हो उठा। मैंने कहा—" मिस्टर लाल, प्रेम इतना सुलभ और जीवन के इतना निकट है, यदि यह मुझे मालूम होता तो''?' 'तो ?'—

लाल ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा "ओह! आप यदि प्रेम के प्यासे हैं तो अभी भी समय है मिस्टर सिंह, मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ। आप क्या प्रेम-रस चखा चाहते हैं?"

बहुत दिन बाद मैं एकाएक हँस पड़ा। हँसने की बात ही थी, अब ५० साल जीवन के पार करने पर मैं प्रेम का रस चख सकता हूँ? यह तो बड़ी ही अजीब बात है।

मेरे हँसने का मतलब मिस्टर लाल समझ गये। उन्होंने कहा 'प्रोफ़ेसर, आप क्या मेरी बात को असम्भव समझते हैं?'

'ओह! बिल्कुल असम्भव, मिस्टर लाल!'

'परन्तु मैं शर्त लगाता हूँ।'

'अब मुझे बनाओ मत भाई।'

'ओह! आपको एक बात का पता नहीं है, प्रोफ़ेसर!'

'कौन-सी बात का?'

'आप यूरोप कभी गये या नहीं?'

'नहीं गया।'

'तभी! यूरोप में कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं, जो पत्र-व्यवहार से दोस्ती करा देती हैं। उन्हें कुछ फ़ीस दे देनी पड़ती है और लिख देना पड़ता है कि इस प्रकार के आदमी से हमें दोस्ती करनी है। बस, वे आनन-फानन सब बन्दोबस्त कर देते हैं।'

मैंने सुन कर अचरज से कहा—'यह तुम कह क्या रहे हो, मिस्टर लाल!'

'आप सुनिए तो! मेरी डायरी में ऐसी संस्थाओं के कुछ पते हैं। ठहरो, देखता हूँ।'—यह कह कर उन्होंने अपनी डायरी लेकर उलट-पलट करनी शुरू की। थोड़ी देर में बोले—'मिल गया। अभी लिखो, कहिए आप कैसे आदमी से दोस्ती किया चाहते हैं?'

मुझे जैसे रस की एक बूँद मिली। मैंने हँस कर कहा 'आदमी से या···।'

'अजी औरत से सही, आप जैसी चाहें ?'

'मैं जैसी चाहूँ ? खूब कही, मिस्टर लाल !' और मैं बड़े ज़ोर से हँस पड़ा।

झुंझला कर मिस्टर लाल ने कहा 'खुदा के लिये कहिये भी कुछ ?'

मेरी सारी संजीदिगी जैसे ग़ायब होगई। मैंने कहा—फ़र्ज़ करो, एक राजकुमारी से, जिसकी अच्छी खासी जायदाद हो···'

लाल ने नोट करते हुए कहा 'उम्र कितनी हो ?'

'यही १६ या २० साल, अत्यन्त सुन्दरी, खुश-मिज़ाज, और···' मैं फिर अपने को काबू में न रख सका, और जोर से हंस पड़ा।

मिस्टर लाल हँसे नहीं। वे कुछ लिखते हुए बोले—'हाँ, एक बात बताइये ? आपका सर्व-प्रिय विषय क्या है, प्रोफेसर? '

'पुरातत्व, इसमें मैंने पदक प्राप्त किये हैं।'

''ठीक है, मिस्टर लाल ने एक पत्र लिख डाला। लिख चुकने पर पत्र मुझे दिखाया, उसमें लिखा था—'एक प्रख्यात पुरातत्वविद् भारतीय विद्वान प्रोफेसर यूरोप की एक ऐसी राजकुमारी से मित्रता किया चाहते हैं, जो खूब धनी, खुश मिज़ाज, सुन्दरी और मृतुल स्वभाव की हो।' उसने पत्र और संस्था की फ़ीस उसी दिन अमेरिका के शिकागो शहर को भेज की। वह शाम, एक मज़े की दिलचस्प शाम गुज़र गई।

(२)

कोई डेढ़ महीने बाद शिकागो से एक पत्र आया। पत्र में मुझे संस्था का सभ्य बनने के लिए मुबारकबादी दी गई थी।

और लिखा था-संस्था के अनेक सदस्य एक भारतीय पुरातत्वविद से परिचय प्राप्त करने के इच्छुक हैं। इसके बाद लिखा था 'स्पेन की राजकुमारी सोफ़िया जो अतुल सम्पिति की उत्तराधिकारणी हैं और जो शिकागो युनिवर्सिटी की ग्रेजुएट है, अपने को आपका मित्र समझ कर गौरवान्वित समझती है। राजकुमारी अभी १६ ही वर्ष की है, उसकी प्रार्थना है कि आप उन्हें सीधा पत्र लिख कर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायें।'

पत्र पढ़ कर मेरी नशों में खून नाचने लगा। मैं समझ ही न सका कि आया यह सत्य है या गोरख-धन्धा। मुझे संसार सुन्दर सा प्रतीत होने लगा और ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे रूखे-सूखे जीवन में रस-वर्षण हुआ है।

मिस्टर लाल को मैंने सब हकीकत लिख कर राय पूछी कि अब क्या करना चाहिये। तीसरे दिन उनका पत्र मिला! लिखा था—पौबारह हैं; प्रोफेसर! पत्र का ड्राफ्ट भेज रहा हूँ, इसे खूब बढ़िया काग़ज़ पर टाइप करके भेज दो। ड्राफ्ट का अभिप्राय यह था :—

"प्रिय राजकुमारी,

आपका परिचय और मैत्री प्राप्त करके मैं अपने को संसार का सबसे अधिक भाग्यवान् पुरुष हूँ। ईश्वर करे हमारी यह मैत्री दिन-दिन गम्भीर और सुखद होती जाय। राजकुमारी, यद्यपि हम लोगों को परस्पर दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है; पर हिन्दू फिलॉसफी के विश्वास पर मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि हम लोग पिछले जन्मके मित्र हैं। प्रिय राजकुमारी, बिदा! मैं आपके बहुमूल्य पत्र और मैत्री के किसी प्रिय चिन्ह प्राप्ति की आशा में हूँ।

आपका,

.........."

काँपते हाथों से मैंने पत्र लिखा। टाइप करना मैंने पसन्द नहीं किया! पत्र लिखते समय मेरे हृदय की धड़कन बढ़ रही थी, मुझे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे जीवन में रस का झर-झर झरना झरने लगा। स्वयं ही मैंने पत्र को पोस्ट कर दिया।

[२]

यथासमय जवाब मिल गया। लिफ़ाफे को देखते ही मन-मयूर नाचने लगा। भीतर सुगन्धित पत्र किन्हीं दिव्य हाथों से लिखा हुआ था। अक्षर मोती से थे और पत्र के एक कोने पर सुनेहरा मोनोग्राम था। पत्र के साथ ही प्रेषिका का एक छोटा-सा; किन्तु अप्रतिम चित्र था। कोई भारतीय पुष्प उसकी समता नहीं कर सकता। गुलाब और कमल प्रगल्भ है, उनमें वह नजाकत और नाजुकपन कहाँ? उन आँखों में जो आवाहन, होठों में जो जीवन, सारी मुखाकृति में जो माधुर्य था, उसकी न समता हो सकती है, न वर्णन। चित्र देखने में मैं इतना तन्मय हुआ कि पत्र पढ़ने का ध्यान ही न रहा। चित्र जैसे बोल उठेगा, वे होठ जैसे हिलने लगे, आखें जैसे हँसने लगीं और मैं जैसे उस चित्र में खो गया।

कुछ देर बाद पत्र का ध्यान आया। पत्र में लिखा था:—

"प्यारे प्रोफेसर;

तुमसे मित्रता प्राप्त कर मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ। जब कभी भी हम मिलेंगे, यह आनन्द कितना अधिक बढ़ जायगा। ओह! मैं तुम्हारे रहस्यमय देश को और उससे भी अधिक तुम्हें देखने को कितनी आतुर हूँ; परन्तु जब तक हम मिलते नहीं, तब तक अपने विस्तृत हालात लिखो, जिससे मैं तुम्हें, अपने घनिष्ठ मित्र को, भली भांति जान सकूँ। और अपना एक फ़ोटो भी भेजो। देखना, विलम्ब न करना। तुम्हारी सच्ची,

सूफ़िया

पत्र का क्या जवाब दूँ, कुछ भी समझ न पाया। पत्र किसी भाँति लिखा जा सकता है; पर फ़ोटो का क्या किया जाय? क्या इस अनिन्द्य सुन्दरी को मैं अपने उजड़े हुए वेदनाओं और निराशाओं की रेखाओं से भरे मुख का चित्र भेजूँ? इसे देख कर क्या उसका कोमल भावुक विश्वस्त हृदय टुकड़े-टुकड़े न हो जायगा? क्या उसकी उल्लासपूर्ण आशा का तार न टूट जायगा? मैंने किसी प्रकार पार पाने में असमर्थ होकर मिस्टर लाल को एक दिन के लिए चले आने का तार भेज दिया। मिस्टर लाल आये और पत्र को देख कर हँसने लगे। उनके हँसने से चिढ़ कर मैंने कहा—'आपने एक अत्यन्त अपमानजनक परिस्थिति में मुझे डाल दिया है, अब कहिए क्या किया जाय? यह फ़ोटो का मामला सबसे अधिक कठिन है, मैं अपना फ़ोटो किसी हालत में उसे नहीं भेज सकता।' मिस्टर लाल ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा—'तो फिर फ़ोटो के लिए कोई बहाना बना दिया जाय? अभी सिर्फ़ एक बढ़िया-सा प्रेम भरा पत्र ही भेज दिया जाय?' मिस्टर लाल की यह तजवीज़ मुझे बिलकुल नहीं रुची। भला फ़ोटो के लिए कौन-सा बहाना ढूँढ़ा जा सकता है, फिर उस बहाने से फ़ायदा? वहाँ से फिर मांग आयेगी? इसके सिवा जो यह अद्भुत मैत्री सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह टाल-टूल करने के लिए नहीं, प्रगाढ़ प्रेम के लिए।

मिस्टर लाल ने अन्त में सोच-विचार कर एक तजवीज़ पेश की और मेरे मन में न जाने कैसा कुछ नटखटपन समाया कि मैंने वह स्वीकार कर ली। एक बढ़िया फ़ोटोग्राफ़र से मिस्टर लाल का फ़ोटो उतरवाया और अपनी सारी सहृदयता खर्च करके मैंने एक पत्र लिखा। फ़ोटो के नीचे कांपते हाथों से मैंने अपना नाम लिख दिया। पत्र और वह फ़ोटो रजिस्ट्री द्वारा भेज दिया गया।

ठीक समय पर जवाब आगया। सेण्ट की भीनी मन-मोहक सुगन्ध से वह पत्र शराबोर था। उसमें जैसे किसी उन्मत्त हृदय ने लिखा था—'अरे! तुम इतने सुन्दर हो प्रिय! न केवल आकृति से ही, प्रत्युत हृदय से भी मैं तुम्हारी मोहिनी-छवि और उससे भी अधिक मधुर-भाव, जो तुम्हारे प्रेमी हृदय के कम्पन हैं, पाकर कृत-कृत्य होगई हूँ। मेरी आत्मा तृप्त होगई है। मेरे प्रिय मित्र, मेरी धृष्टता क्षमा करो, मुझे साफ़-साफ़ लिखो, क्या तुम विवाहित हो? क्या तुमने अभी तक किसी स्त्री से प्रेम किया है? क्या तुम कुछ आशान्वित हो या तुम निराश हो चुके हो? मेरे प्यारे प्रोफेसर, मुझे तुम कुछ कटु सत्य भी तो कहने दो, जब मैत्री हुई तब भेद क्या? तुम्हारी ये सुन्दर आँखें और मदभरे होठ जब ग़ौर से देखती हूँ तो मुझे उनसे कुछ भय, कुछ आशङ्का-सी प्रतीत होती है, उनमें कैसा कुछ चोचला छिपा है। इन नेत्रों में तुमने क्या सच-मुच ही कोई भेद नहीं छिपा रखा है? परन्तु मैं कदाचित् तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ। तुम साधारण पुरुष तो नहीं हो। एक वैज्ञानिक, एक अन्वेषक और एक प्रोफेसर हो। ओह! मैं नहीं जानती कि तुम मुझे कैसे क्षमा कर सकोगे; परन्तु मैं सिर्फ यह चाहती हूँ कि मैं शीघ्र से शीघ्र तुम्हारे हृदय के निकट आऊँ; परन्तु ये आँखें? जाने दो मुझे तुम पर विश्वास करना चाहिए, मैं तुम पर विश्वास करती हूँ। मेरे प्यारे प्रोफेसर! विदा; परन्तु चिरकाल के लिए नहीं। मैं तुम्हें शीघ्र ही दूसरा पत्र लिखूँगी; परन्तु तुम उसकी प्रतीक्षा मत करना, जल्द से जल्द पत्र लिखना, अपने रिसर्च की फ़ाइलें भी भेजो, मैं उनका अध्ययन किया चाहती हूँ।

तुम्हारी,

सूफ़िया"

मैंने बारम्बार पत्र लिखा, सूफ़िया की कोमल भावुक मूर्ति हूबहू जैसे मेरी आँखों के आगे आ खड़ी हुई। मिस्टर लाल ने कई बार लिख कर मुझसे पूछा कि क्या जवाब आया है? पर मैंने उन्हें कोई जवाब नहीं दिया। इस सरला-तरला बालिका को ठगने का मन में बड़ा अनुताप हो रहा था। परन्तु जो हो गया सो हो गया। मैंने यह भेद किसी से नहीं कहा।

[४]

दिन बीतते चले गये। महीने और वर्ष बीत गये। हम लोगों की मित्रता गम्भीर प्रेम में परिवर्तित हो गई। सूफ़िया मुझसे मिलने को विकल रहने लगी। उसने अनेक बार मुझे यूरोप की यात्रा करने का आमन्त्रण दिया। खर्च के सम्बन्ध में निश्चित रहने का भी सङ्केत किया; पर हाय, मैं अपने शरीर और चेहरे को कहाँ छिपाऊँ? उसके साथ जो मैंने यह प्रवञ्चना की थी, वह जैसे दिन पर दिन मेरे ऊपर बोझ होकर लदने लगी। उसका बोझ बढ़ता ही गया और जैसे मैं उसके नीचे पिसता गया। मिस्टर लाल से कई बार मुलाक़ात हुई; उन्होंने मुझसे अनेक बार सूफ़िया के सम्बन्ध में पूछा; पर हमेशा मैंने उन्हें टाल दिया। अब सूफ़िया और अपने बीच किसी को आने देना मुझे सहन न था। मेरी ईर्षा और क्रोध के सब से बड़े भाजन मिस्टर लाल ही थे। उनकी ही मोहक और वासनामयी मूर्ति सूफ़िया के हृदय में मेरा प्रतिनिधित्व करती थी। हाय, आप हीं कहिए कि मैं इसे कैसे सहन कर सकता था? लाल अब मुझे फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे, वे ही मेरे सब से अधिक प्रतिस्पर्धी हैं। सूफ़िया को मैं जो पत्र लिखता था, उसमें मैं अपनी आयु मर्यादा को भूल जाता था। हम दोनों अब एक अटूट प्रेमी थे। हम दोनों ही अब परस्पर मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल थे, मैं इस बात को

मानो भूलने-सा लगा था कि जब हम मिलेंगे, हमारा स्वप्न टूट जायगा। सम्भव है कि सूफ़िया मुझे घृणापूर्वक वञ्चक, ठग कह कर तिरस्कार कर दे, और मेरा सारा संसार अँधेरा हो जाय, आह! फिर मैं क्या जीवित रह सकूँगा? मुझे निश्चय अपने प्राण-त्याग करने पड़ेंगे। परन्तु असल बात तो यह है कि मैं उसे मुँह नहीं दिखा सकता। उसके सन्मुख आने से प्रथम ही मरना होगा। दिन बीतते जाते थे और मेरे मन की विकलता बढ़ती जाती थी। एक दिन एकाएक तार मिला, सूफ़िया का था। वह दूसरे ही दिन बम्बई पहुँच रही थी, पढ़ कर पैरों तले से ज़मीन निकल गई। कुछ करते-धरते न बन पड़ा। संसार घूमता-सा नज़र आने लगा! अब क्या होगा? और कोई भी चारा न था, मैंने मिस्टर लाल को तार देकर तुरन्त बुलाया। वे आये, तार देख कर वे भी ज़रा चकराये; किन्तु अब तो एक ही मार्ग था कि मैं अपनी जगह मिस्टर लाल को दूं। मैं सूफिया को लाल के हवाले कर दूं और आप लोहू का घूंट पीकर बैठ जाऊं या जान दे दूं। परन्तु यह एक मात्र मार्ग भी निरापद न था। इतने लम्बे अर्से तक जो पत्र-व्यवहार हुआ है, परस्पर के हृदय का जो विनिमय हुआ है, हम दोनों जो एक दूसरे के इतने निकट आ गये हैं, इसका क्या होगा? क्या मिस्टर लाल मेरा सच्चा स्थान ग्रहण कर सकेंगे? इसकी कोई सम्भावना नहीं दीखती; परन्तु अब तो और कोई उपाय नहीं है, यह तो सम्भव ही नहीं हो सकता कि मैं सूफ़िया पर अपना भेद खोल दूं। अपना मनहूस चेहरा लेकर उसके सामने जा खड़ा होऊं! मैंने सब बातें समझा-बुझा कर मिस्टर लाल को सूफ़िया के पास भेज दिया और कह दिया कि जैसे बने वैसे जल्द से जल्द उसे वापस भेज देना। मिलन-क्षण की प्रतीक्षा ही रही और बिदा की व्यवस्था हो गई। वाह! ऐसा प्रेम भी दुनिया में किसी ने न किया होगा!

क्षण-क्षण पर मैं मिस्टर लाल के पत्र की प्रतीक्षा कर रहा था, रह-रह कर हृदय कांप उठता था! क्या परिणाम होगा, समझ नहीं पड़ता था। एक दिन सुबह अपने कमरे में बैठा मैं सूफ़िया के चित्र को निराश भाव से देख रहा था। मन कैसा कुछ हो रहा था। सोच रहा था एक अनोखा खेल खेला! खेल ही खेल में अलभ्य निधि पाई और खो दी। मुझे मालूम हुआ धीरे से द्वार खुला। सोचा, नौकर आया होगा। कालेज का समय हो रहा था। वह शायद भोजन के लिये बुलाने आया होगा। मैंने बिना ही उस ओर देखे कहा—'ठहरो गोपाल, मैं अभी आता हूं।' पर कमरे में जैसे कुछ सौरभ-सा फैल गया। मैं आँख उठा कर देखने लिए विवश हो गया। देखा, जीती-जागती सूफ़िया थी। मैंने कुर्सी से खड़ा होना चाहा; पर लड़खड़ा कर गिर गया। परन्तु दूसरे ही क्षण सूफ़िया मेरी गोद में थी। वह मेरी छाती में सिर दिये सिसक-सिसक कर रो रही थी। मैं जैसे ब्रह्माण्ड को फोड़ कर एक अगम लोक में उठा जा रहा था।

अंत में मैंने अपने होश-हवाश क़ायम किये। मैंने साहस बटोर कर कहा—'सूफ़िया राजकुमारी' तुमने अचानक ही मुझे गिरफ़्तार कर लिया। मुझे मरने का अवसर नहीं दिया, जो मेरी इस प्रवञ्चना का सच्चा दण्ड था!'

सूफ़िया ने शिथिल बाहें फिर मेरे गले में डाल दीं। उसने नील-आकाश की भाँति स्वच्छ आँखों से मेरी ओर देर तक ताकते रहने के बाद कहा—'प्यारे, तुम पूरे ठग और भयानक जादूगर निकले। तुमने पहले मुझ पर जादू किया और फिर मुझे ठग लिया।'

उसने उसी भाँति मेरी गोद में लेटे-लेटे सब बातें कहीं। उसने बताया कि उसे मेरा छल तो बहुत दिन हुए मालूम हो गया

था। मेरा असली चित्र भी एक वैज्ञानिक पत्रिका से मिल गया था। इतने पर भी उसका प्रेम प्रगाढ़ होता गया। उसने कहा— 'प्रेम तो आत्मा की वस्तु है, शरीर और वासना से उसका क्या सम्बन्ध ?' वह कहती गई—'उसने वह प्रेम पा लिया जो स्त्री-जाति के जीवन का सहारा है। धन्यवाद है ईश्वर का कि तुम्हारी आँखों और होठों में वह अप्रियभाव नहीं छिपा है, जो तुम्हारी भेजी हुई तुम्हारे मित्र की तस्वीर में था। जो, वे जब मुझे बम्बई में मिले—भली भाँति अनुभव करने में आया।'

बड़ी देर तक मैं बोल ही सहीं सका। पर उस अद्भुत लड़की ने मेरा सारा सङ्कोच भगा दिया। फिर तो दिनो-रात हमारी बातें हुईं। सूफ़िया ने मिस्टर लाल को जैसा बनाया, जैसी उनकी गति बनी, उसे सुन कर हँसना रुका नहीं; मिस्टर लाल फिर मुझे मिले भी नहीं। सूफ़िया ने नहीं माना और मैंने कॉलेज से इस्तीफ़ा देकर सूफ़िया के साथ यूरोप की यात्रा की। इस के बाद सूफ़िया के प्रथम ही से किए गये प्रबन्ध के अनुसार मुझे स्पेन की यूनीवर्सिटी में एक अच्छी जगह मिली और अपने विशाल बन्धु-बान्धवों को आश्चर्य-चकित करके सूफ़िया ने मुझे विवाह-सूत्र में बाँध लिया।

तसवीर

बहस का मुद्दा यह था कि फ़ोटोग्राफ़ी चाहे भी जितनी उन्नति कर ले, यह चित्रकला नहीं कहला सकती। चित्रकला एक महान् कला है। कला विकास मस्तिष्क से होता है जिसमें जीवित विचार होते हैं, मशीन से नहीं, जिसमें सिर्फ़ छाया ही को अङ्कित किया जा सकता है। फ़ोटोग्राफ़ी तो सिर्फ़ उन चीज़ों की एक मुर्दा नकल है जिन्हें आँखों से देखा जा सकता है; परन्तु चित्रकला चलते-फिरते विचारों की रूप-रेखा है। एक फ़ोटोग्राफ़र उन्हीं चीज़ों की छाया उतार सकता है जिन्हें अपनी आँखों से देख सकता है; परन्तु सच्चा चित्रकार वह है जो विचारों की तस्वीर खींचता है। वे विचार जिनकी कोई मूर्ति नहीं है, सिर्फ़ चित्र-कार की कूँची से ही जैसे अवतार बन कर आँखों के सामने आते हैं और तब हम देखते हैं कि उसमें अमूर्त को मूर्त बनाने का गुण है, जो केवल ईश्वर में है।

मिस्टर भरूँचा जोश में आकर ये बातें कह रहे थे। उनके हाथ में चाय का प्याला था। बीच-बीच में वह उसकी चुस्की भी लेते जाते थे। अपनी बात पूरी करके उन्होंने गर्म-गर्म चाय

की दो-तीन घूंट गले के नीचे उतारी और चश्मे से घूर-घूर कर मिस्टर वेदवार की ओर देखने लगे।

मिस्टर वेदवार सुन रहे थे और मुस्करा रहे थे। असल बात यह थी कि एक बार उन्होंने मिस्टर भरूँचा की तस्वीर उतारने से इन्कार कर दिया था। इन्कार भी ऐसा वैसा नहीं, यह कह कर इन्कार किया था कि आप तस्वीर उतारने के क़ाबिल ही नहीं हैं। वास्तव में मिस्टर वेदवार कुछ पेशेवर फ़ोटोग्राफ़र तो थे नहीं। घर के रईस थे। फोटोग्राफ़ी वे सिर्फ शौक़िया करते थे। इसकी उन्हें सनक थी। इस सनक के पीछे उन्होंने दो-तीन लाख रुपया फूंक किया था। इटली, जर्मनी, जापान, रूस और न जाने कहाँ-कहाँ की खाक छान आये थे। फ़ोटोग्राफ़ी के मामले में वे अब एक प्रमाण माने जाते थे। उन जैसा फ़ोटोग्राफ़र उन दिनों बम्बई शहर में न था। मगर उनकी सनक में एक लहर होती थी। प्रायः वे पुरुषों के फ़ोटो तो यह कहकर खींचने से इन्कार कर दिया करते थे कि पुरुष सोचने-विचारने और काम करने का जानवर है फ़ोटो उतरवाने का नहीं। स्त्रियों की वह लता से उपमा दिया करते थे। उनका कहना था, जैसे लता बिना सहारे खड़ी नहीं हो सकती, जैसे लता में—कोमलता, मरोड़, मृदुल-माधुर्य और शोभा है, वैसी ही स्त्रियों में है। इसी से वे स्त्रियों का फ़ोटो सीधी खड़ी करके नहीं लेते थे, खास-खास पोज़ लेते थे। यद्यपि वे बहुत ऊँचे दर्जे के फ़ोटोग्राफ़र थे, फिर भी स्त्री-पुरुष दोनों ही उनसे फ़ोटो उतरवाने में घबराते थे। रुपया-पैसा तो वे किसी से लेते-देते नहीं थे; पर फ़ोटो उतरवाने वालों को हलाक़ कर डालते थे, मैंने कहा न कि पुरुषों को तो वे देखते ही धता बता देते थे—ख़ास कर उन पुरुषों को जो देखने में सुडौल और सुन्दर नहीं होते थे। स्त्रियाँ जब उनके पास इस मतलब से

आती तो वे उन्हें बड़ी देर तक घूर-घूर कर ऊपर से नीचे तक देखते, किसी से तो साफ़ इन्कार कर देते—कोई वजह बताते ही नहीं। किसी की आँख, कान, नाक, कमर, कपड़ा-लत्ता आदि की ऐसी आलोचना करते कि वे बुरा मान कर चिढ़ जातीं और फिर मिस्टर वेदवार से तस्वीर उतरवाने का नाम नहीं लेतीं थीं। जिन सौभाग्यशालियों का फ़ोटो लेना वे स्वीकार कर लेते थे, उनकी शामत आ जाती थी, उन्हें वे नचा मारते थे। पहले तो वे उनके कपड़े-लत्तों के कट, रङ्ग-मैच पर बहस करते और उन्हें मजबूर करते कि वे उनकी मर्जी और रुचि के अनुसार ही तैयार करावें, फिर वे बैकग्राउण्ड की तलाश में उन्हें लिये-लिये जङ्गल-जङ्गल न जाने कहाँ-कहाँ मारे-मारे फिरते थे। इतना होने पर लाइट, रुख, बैठने का तरीका आदि सौ झंझट निकाल बैठते थे। ग़रज़ कोई हिम्मतवर माई का लाल ही उनसे फ़ोटो उतरवाने का साहस कर सकता था। पर जिसका फ़ोटो वे उतार देते थे, वह बम्बई शहर भर में फैशनेबुल सुन्दरियों की ईर्षा की केन्द्र हो जाती थी। यदि मिस्टर वेदवार अधेड़ उम्र के एक बुजुर्ग और गम्भीर आदमी न होते, तो जिस तरह वे युवती लड़कियों को फ़ोटो के मामले में नाच-नचाते थे, उसे देख कर लोग कुछ और ही अनुमान करने लगते। मगर ग़नीमत यही थी कि उन पर विश्वास और श्रद्धा सब की थी। लोग कौतूहल से उनकी बातें सुनते थे। कोई उनकी किसी भी बात का बुरा नहीं मानते थे।

मिस्टर भरूँचा एक अजब लमढींक आदमी थे। दोनों गालों की हड्डियाँ उभरी हुई, एक आँख छोटी एक बड़ी, खिचड़ी व मोटे-मोटे सूअर के-से बाल, बेतरतीबी से छितराई हुई मूँछें, ढीला और लापरवाही से बदन पर डाला हुआ सूट। अब कहिए उनकी तस्वीर मिस्टर वेदवार खींच कैसे सकते थे? सो उन्होंने उनसे साफ़

कह दिया— 'जाइए-जाइए, लड़कों को फ़िलाँसफ़ी पढ़ाइये और बीबी के हाथ पर हर महीने पाँच-सौ रुपये गिन दिया कीजिये, उन लोगों की नज़र में और जँच जायँगे। मगर आप फ़ोटो खिंचवाने की हिमाक़त कीजिए। इससे कला दूषित हो जायगी।' और सुनिए, यह बात भी उन्होंने कही चार दोस्तों में, जिससे मिस्टर भरूचा का खूब ही मजाक उड़ा, सो इस बार उन पर वार करके उन्होंने कसर पूरी कर ली।

डॉक्टर गोयल भी मिस्टर वेदवार से खार खाये बैठे थे, बोल उठे—'अब आप कहिये क्या कहते हैं ? मैं समझता हूँ प्रोफ़ेसर साहब की बात में एक गहरी सचाई है।'

मिस्टर वेदवार ने सिगार में एक गहरा कश लगाया। धुँए का बादल ऊँचा मुँह कर के छोड़ा। फिर कहा—'मुश्किल क्या है, कैमरे से भी उसी प्रकार विचारों की तस्वीर खींची जा सकती है, जिस प्रकार कोई चित्रकार कूँची से खींचता है। वास्तव में कैमरा और कूँची दोनों ही तो एक साधन मात्र हैं, तस्वीर तो कलाकार का दिमाग़ ही खींचता है ?'

सर फ़ाज़ल-भाई ज़रा चैतन्य हो कर बोले—'तो आपका यह मतलब है कि आप ख़यालात की तस्वीर खींच सकते हैं ?'

'जरूर, यदि मुनासिब दाम मिलें। मिस्टर वेदवार ने इस तरह मुस्कुरा कर यह जवाब दिया कि सर फ़ाज़लभ-ाई एकदम उत्तेजित होकर बोले—'यदि आप मेरे एक शेर का फ़ोटो खींच सकें तो मैं आप को मुँह माँगा दाम दूँगा।'

मिस्टर वेदवार ने हाथ का सिगार फेंक दिया, जेब से पॉकेट-बुक निकाल कर कहा—'बहुत अच्छा, आप यही बात इस नोट बुक में लिख दें और वह शेर भी।'

सर फ़ाज़ल-भाई ने तैस में आकर वादा भी लिख दिया और वह शेर भी। मिस्टर वेदवार ने एक सरसरी नज़र उस पर डाली, मुस्कराये, पॉकेट-बुक जेब में डाल कर कहा—"बहुत अच्छा, छः महीने में आपको तस्वीर मिलेगी।'

'बहुत अच्छा, मैं कयामत तक इन्ज़ार करूंगा।'

सब लोग हँस पड़े, सिर्फ मि० वेदवार नहीं हँसे। सभी मित्र चाय-पान ख़तम कर बिदा हुए।

[२]

वह शेर औरङ्गज़ेब की बेटी ज़ेबुन्निसाँ का एक प्रसिद्ध फ़ारसी शेर था। वह शेर फ़व्वारे के उछलते हुये जल को लक्ष्य कर पढ़ा गया था। उसका अभिप्राय यह था:—

'तेरी भौंहों में बल पड़े हुये हैं, तू गुस्से से ताव-पेंच खाकर ऊपर उठता है, और पत्थर पर सिर दे-दे मारता है, तेरे दिल में ऐसा क्या दर्द है, तेरी प्रकृति ठण्डी है और स्वभाव शान्त।'

इस शेर की तस्वीर खींचने के इरादे से मिस्टर वेदवार ने बम्बई से पञ्जाब और काश्मीर तक की यात्रा करने की ठानी। वे दिल्ली-पञ्जाब घूमते हुये काश्मीर पहुंचे। शालामार बाग़ में अब वे चक्कर काटने और वही शेर गुन-गुनाने लगे। सामने सङ्गमर्मर के फ़व्वारे चल रहे थे। स्वच्छ सङ्ग-मर्मर की चौकियाँ पड़ी थीं। चांदनी रात थी। एक चौकी पर एक फ़व्वारे के सामने बैठ कर वे सोचने लगे—ऐसी ही सुहावनी चाँदनी रात होगी, ऐसी ही ठण्डी हवा चल रही होगी, ऐसा ही यह फ़व्वारा जल बखेर रहा होगा—देखो तो फ़व्वारे का पानी कैसा ताव-पेंच खाकर ऊपर उछल रहा है, कैसे इसके माथे में बल पड़े हुये हैं। और किस तरह यह पत्थर पर सर पटक रहा है। अपने प्यारे के वियोग में जलती-भुनती भग्नहृदया ज़ेबुन्निसाँ ने यहीं, इसी पटिया पर

बैठ कर अपने दिल के दर्द से इन पानी की धार के दर्द की कल्पना की होगी। कदाचित शाहजादी भी पत्थर पर सर दे मारना चाहती हो।

इन्हीं विचारो में मिस्टर वेदवार उस फव्वारे को देखते रहे। कई बार देखा और अन्त में एक विचार उन्होंने तय किया। अब एक ज़ेबुन्निसाँ की मूर्ति तलाश की जाय, उसे इसी चौकी पर बैठाया जाय और उसके मस्तिष्क में यही विचार उत्पन्न किया जाय और तब उसका एक फोटो ले लिया जाय।

अब मिस्टर वेदवार अपनी ढीली-ढाली पतलून में हाथ डाले, रूप के बाजार की सैर को निकलें, काश्मीर भर की सुन्दरियाँ देख डालीं; मगर ज़ेबुन्निसाँ की आकृति की कोई लड़की उन्हें न मिली। वे हताश हो लाहौर आये। वहाँ भी घूमते रहे, तस्वीर खींचने से निराश हो रहे थे। एक दिन शाम को उन्होंने एक युवती को मोटर से उतर कर एक दुकान में घुसते देखा। देखते ही उछल पड़े। वैसी ही नाक वैसी तीखी-आँखें, चौड़ा माथा, लम्बी गर्दन हू-ब-हू जैसे शाहजादी ज़ेबुन्निसाँ हो, वे खुशी-खुशी दूकान में घुस गये। घूर-घूर कर ऊपर से नीचे तक युवती को देखने लगे। भीड़-भाड़ में किसी ने उनकी बेहूदगी पर ग़ौर नहीं किया। युवती जब सौदा खरीद कर चली तो आप भी टेक्सी लेकर पीछे-पीछे चल दिये। और जब वह अपने बंगले में चली गई, तो आपने पता लगाया कि वह कोई सेशन जज हैं, जिनका यह बँगला है, उन्हीं की वह पुत्री है।

आपने खट् से अपना कार्ड जज साहब को भेज दिया। मिलने पर आपने संक्षेप में अपना परिचय देकर कहा—'कृपा कर आप अपनी पुत्री का एक फोटो खींच लेने की आज्ञा दे दीजिये।' जज साहब बहुत भड़के-भन्नाये; परन्तु वेदवार साहब

भला कहाँ छोड़ने वाले थे, जब बड़ी-बड़ी सिफारिशें और परिचय-पत्र उन तक पहुँचे। और मिस्टर वेदवार की आयु, सौजन्य सनक और उद्देश उन्हें मालूम होगया तो वे उनके दोस्त हो गये और इस शर्त पर राजी हो गये कि फोटो हमारे ही सामने खींचा जायगा।

जब जज साहब राजी हो गये तब मिस्टर वेदवार ने यह पख लगाई कि फोटो यहां नहीं, शालामार बाग़ में खींचा जायगा। जज साहब किसी तरह राज़ी न होते थे, पर अन्त में जब सब खर्च का भार मिस्टर वेदवार ने लिया तो राज़ी हो गये। एक महीने की छुट्टी ली, और पूरी पार्टी काश्मीर जा पहुंची।

ज़ेबुन्निसा के उपयुक्त पोशाक और ज़ेवर तैयार कराने में, लड़की के मस्तिष्क में, वही भाव भरने में मिस्टर वेदवार को कई दिन लग गये। रुपया भी बहुत खर्च हो गया। परन्तु इसकी उन्हें परवाह न थी, किसी भांति तस्वीर खिन्च जाय। जज साहब को भी अब उनकी सनक में मज़ा आने लगा था। और लड़की भी रस लेने लगी थी। इससे मिस्टर वेदवार की कठिनाइयां कुछ हल्की हो गई थीं।

सब तैयारी कर चुकने पर अन्त में एक दिन फोटो खींचने का इरादा पक्का कर सब लोग शालामार बाग़ पहुँचे। जज साहब ने देखा, काफी रुपया खर्च करके वेदवार ने वहां आवश्यक परिवर्तन किये हैं। ऐसा मालूम होता था, शाहज़ादी ज़ेबुन्निसां, इसी बाग़ में आजकल रह रही हैं।

परन्तु जब फोटो लेने का समय आया और सब तैयारियां होगईं तो फोकस लेने के बाद मिस्टर वेदवार ने उदास होकर कहा—'अफसोस है, आज फोटो नहीं खिन्च सकता।'

जज साहब बौखला उठे। उनकी छुट्टियों के बहुत कम दिन रह गये थे। बोले—'अब क्या हुआ ?'

मिस्टर वेदवार ने समझाया। फोटो उस समय लिया जायगा जब सूरज के नीचे एक बादल का टुकड़ा होगा। हमें यहां रोज़ आना होगा, उसकी प्रतीक्षा करनी होगी। बिना ऐसा हुए चांदनी रात का राइट-शेड चित्र में नहीं आ सकता, और कृत्रिम बन्दोबस्त भी नहीं किया जा सकता।

जज साहब बहुत चीखे-चिल्लाये। पर मिस्टर वेदवार की बेबसी, विनय और इतने दिन की मुरव्वत ने आखिर उन्हें पिघला दिया। वे मिस्टर वेदवार के पीछे खूब ही नाचे और अन्त में एक दिन ठीक फोटो खिंच गया। फोटो देख कर मिस्टर वेदवार आनन्द से विह्वल हो गये। वे दौड़े दौड़े गये और जज साहब के गले से लिपट गये। चित्र क्या था मानो स्वयं शाहजादी ज़ेबुन्निसां चाँदनी रात में अपने उदास और एकाकी जीवन के लिए फव्वारे के सामने बैठी उसके प्रति संवेदना प्रकट कर रही हैं। और वह शेर जैसे अनायास ही उनके मुँह से निकल पड़ा है।

(३)

बम्बई पहुंच कर चित्र मित्र-मण्डली के सामने सर फाज़ल-भाई को दिया गया। बम्बई के सब कलाकार बुलाये गये। सबने मुक्त-कण्ठ से चित्र की प्रसंसा की। जब सर फाज़ल-भाई ने उसका मूल्य पूछा तो मिस्टर वेदवार एक ठण्डी सांस लेकर बोले—'वादा कर चुका हूं, इसलिए देना पड़ा। इस चित्र का कोई मूल्य नहीं है। छत्तीस हज़ार रुपया मेरा जो इसके बनाने में खर्च हुआ है, दे दीजिये।'

तेरह बरस बाद

आम कहावत है कि दूसरी पत्नी पति को अधिक प्यारी होती है। कदाचित् इसलिये कि उसमें उल्लास और वेदना एक ही लक्ष्य-बिंदु पर संघात खाती है। पति की गदह-पचीसी रफ़ूचक्कर हो जाती है। जीवन की एक असाधारण ठोकर उसे कल्पना, स्वप्न और बाहरी रंगों की दुनिया से उठाकर भीतरी जगत् के सत्यालोक में पहुंचा देती है। वह पत्नी को प्रेयसी समझने की शायद बेवक़ूफ़ी फिर नहीं कर सकता। जीवन-संगिनी का सच्चा अर्थ टीका और भाष्य-सहित उसकी समझ में आ जाता है। खटपट, मान व्याज-कोप, ऊधम और तमाम चंचल वृत्तियों के प्रोग्राम स्थागित हो जाते हैं, और वह सावधान, गंभीर, स्थिर, केंद्रित और उत्तरदायित्व-पूर्ण हो जाता है।

परंतु संगीत में एक साथ मिलकर बजने वाले विविध वाद्य जब तक एक सम पर आकर संघात नहीं खाते, तब तक संगीत का समा नहीं बँधता। सितार और सारंगी, तबला और हारमोनियम, सब के ठाठ जुदा तो हैं, पर उन्हें स्वर-लहरी और ताल के साथ विवस होकर मिलकर ही चलना पड़ेगा, तभी तो रसोदय

होगा। ठीक उसी प्रकार दांपत्य में भी रसोदय तो तभी होता है, जब पति-पत्नी जीवन की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल क्रियाओं में एकीभूत हों, प्रत्येक सम पर दोनों अभिन्न हो जायँ—सुर से भी और ताल से भी।

उदय और अमला पति-पत्नी थे। जीवन की संगीत-लहरी दोनोंकी हृदय-वीणा के तारों को प्रकंपित करती थी, परंतु सम पर आकर दोनो बेसुरे हो जाते थे। ताल-सुर का मेल नहीं खाता था। इससे, सब कुछ ठीक होने पर भी, उस छोटे-से दांपत्य-संगीत में रसोदय नहीं हो पाता था। क्यों ? सो कहता हूँ। उदय की आयु ३२ साल की थी, और अमला की १८ वर्ष। अमला से उदय का ब्याह हुए केवल १॥ वर्ष बीता था। अमला उदय की दूसरी पत्नी थी।

२८ साल की आयु में उदय की प्रथम पत्नी का अकस्मात् देहांत हुआ। प्रेमोन्माद की मूर्च्छितावस्था में ही जैसे किसी ने उसका सब कुछ अपहरण कर लिया हो। पत्नी की मृत्यु के बाद तुरंत ही वह उन्माद उतर गया, और फिर उसने अपने संसार को छिन्न-भिन्न दुर्गम और असह्य पाया। अकस्मात् और असमय की मनोवेदना उसका अदीर्घदर्शी जीवन न सह सका, वह वेदना में विकल हो हाहाकार करने लगा। परंतु जगत् में अंधकार हो या उजाला, उसमें जितनी भी चीजें हैं, वे तो रहती ही हैं। अमला भी जगत् में थी, वह अदृष्ट-बल से उदय से आ टकराई। और, जब दोनों पति-पत्नी हुए, तो हठात् जीवन की सारी ही विचार-धारा बदल गई। वह भी केवल उदय ही की नहीं, अमला की भी।

अमला सोचती थी, पति एक प्रतिमा है; उसमें बहुत-से रंग भरे हुये हैं। वह एक भूला है; अमला जब उसे प्राप्त करेगी,

वह उसके सहारे लटक जायगी। अपनी यौवन-भरी ठोकर के आघात से पैंग ले-ले झूलेगी। आशा के हरे-भरे सावन में प्रेम की रिमझिम वर्षा होगी; वह झूलेगी, गावेगी, हँसेगी और विहार करेगी। वह एक बार अपने यौवन, जीवन और स्त्रीत्व को पति के अर्पण करेगी। और, वह उसे अपने पौरुष, दर्प, प्रेम और आत्मार्पण में लीन करके उसके नारीत्व को सार्थक करेगा।

ये सब बातें अमला ठीक इसी भाँति सोचती हो, सो नहीं। ये तो बड़ी गहरी बातें हैं। अमला तो जैसे जीवन-पथ पर उछलती चलती थी, वह तो इन सब बातों को ऊपर-ही-ऊपर सोचती थी। जैसे भूखा आदमी भूख तो अनुभव करता है, पर उसके शरीर में जो भीतर उद्वेग पैदा होता है, जिसके कारण भूख लगती है, उसे नहीं समझता, उसी तरह अमला अपने मन की उस उमंग को तो समझती थी, जो उसके यौवन के प्रभात में पति के संस्मरण से तरंगित होती थी, परंतु उसके मूल-कारण को नहीं।

[२]

विवाह के बाद अमला जब ससुराल आई, तो उसे ऐसा मालूम हुआ कि जिस वस्तु के संस्मरण से उसके मन में इतनी उमंगें उठती थी, वह कुछ उतनी प्रिय, आकर्षक और उसके उतनी निकट नहीं है, जितनी उसे होना चाहिए था। वह क्षण-भर ही में अपने को उस अपरिचित घर में कुछ अपरिचित-सी देखने लगी। पति को देखकर वह कुछ सहम-सी गई। उसने देखा, वह कुछ उल्लसित नहीं हैं। अमला की चंचलता और उमंग को उद्रेक करने की उनकी कुछ भी चेष्टा नहीं है उनकी आँखों में प्यार की वह छलछलाती चमक नहीं। उनमें एक रूखी विचार-धारा-सी, एक विस्मृति-सी है। जैसे अमला को हिफ़ाजत से अपने घर में धरकर वह कुछ निश्चिंत-से हो गए हैं।

रह-रहकर अमला के मन में यह होता था कि वह उसके पति नहीं हैं। पति का नाम मन में उदय होते ही जो रोमांचकारी परिवर्तन उसके शरीर में होता था, वह उन्हें देखकर नहीं होता था।

घर में और भी औरतें थीं। दो ननँदें थीं—एक विधवा, एक कुँआरी। एक जिठानी थी, एक सास। इन के सिवा कुछ दिन तो पास-पड़ोसिनों का ताँता बँधा रहा। उन सब ने बारीक नज़र से अमला को देखा, जैसे कोई भूली चीज़ पहचानी जा रही हो—चोरी के माल की शिनाख्त हो रही हो! अमला को यह सब बहुत बुरा लगा। उसे देख-देख कर जो औरतें चुपचाप संकेत का एकाध वाक्य कहती थीं, पास-पड़ोसिनें उसकी सास को जिन शब्दों में बधाई देती थीं, उन सबसे तो खीझकर अमला रोने लगी। उसने सोचा, जैसे मैं मोल खरीदा बर्तन हूँ, हर कोई ठोक-बजाकर देखता है कि ठीक है या नहीं? तब इस सब अप्रिय वातावरण में एक प्रिय वस्तु थी, वह उसकी कुमारी छोटी ननँद कुंद। वही सब से पहले पालकी में अमला के पास घुस बैठी थी। वही अमला का घूँघट हटाकर हँसी थी। वही उसका आँचल पकड़ घर में खींच लाई थी। वही दिन-भर अमला के पास रह-कर पल-पल में उसे खाने-पीने, सोने-बैठने को पूछ रही थी। वह एक प्यारी-सी तितली थी। अमला ने देखा, जैसे वह कुछ उसी का ज़रा गोरा एक संस्करण है। अभी दो दिन पहले पिता के घर में अमला ऐसी ही तो थी। जो हो, अमला की सबसे प्रथम घनिष्ठता कुँद से हुई। कुंद का आसरा लेकर अमला उस घर में रहने लगी। धीरे-धीरे सब कुछ सात्म्य हो गया। सब कुछ सम हो गया। अमला ने सास की सुजन मूर्ति को समझ लिया, पति के सौजन्य को भी जान लिया। पति-पत्नी आशातीत ढंग से झटपट ही पुराने होने लगे। उनके जीवन में गदह-पचीसी के

विनोद, भूलें, मान-मनौवल, रूठना, विवाद बहुत कम आते। अमला ने पति के शुद्ध, गंभीर प्रेम को पहचान लिया। पति को देखकर लाज से सिकुड़ना झटपट ही समाप्त हो गया। हास-विनोद का अध्याय बहुत कम पढ़ा गया। वह जैसे कुछ महीनों में ही गृहिणी बन गई। अब वह पति को देखते ही उनकी आवश्यकताओं का ध्यान करने लगी। वह दिन-भर खटपट में लगी रहती। बातचीत जब दोनों की होती, किसी-न-किसी कार्य-वश।

जैसे पाल में झटपट पकाए फलों का स्वाद डाल से-टूटे ताज़े फलों-जैसा न होकर कुछ कृत्रिमसा होता है, वैसे ही असमय में इस पति-पत्नी की दायित्व-पूर्ण घनिष्ठता ने अमला को अस्वाभाविक गंभीर और अपनी समस्त आयु और स्थिति से कहीं बहुत अधिक कृत्रिम बना दिया। इसका सबसे बड़ा असर अमला ही पर पड़ा। उसके शरीर और मन, दोनों ही का विकास रुक गया। पति के घर में रहने को, उसे अपना मानने को जैसे उसे विवश किया गया हो। वहाँ की दीवारें, कमरे, सामान, बिछौने, कपड़े, सभी कुछ अपरिचित-से उसे प्रतीत होने लगे। सास, ससुर, देवर और पति भी जैसे उसे कर्तव्य-वश अपने समझने पड़े।

उदय की परिस्थिति कुछ और ही थी। जैसे फाँसी की आज्ञा पाने पर कोई अपील में छूट जाय, ठीक उसी भाँति अमला को फिर से पत्नी-रूप में पाकर वह केवल संतोष की एक गहरी साँस ले सके थे। अमला के प्रारंभिक उल्लास और नवीन जीवन की ओर उन्होंने दृष्टि-पात ही नहीं किया। और, इसी से, बिना खाद-पानी के पौदे की भाँति, वह मुर्झाकर सूख भी गया। परन्तु उदय के लिये मानो सब एकरस था। अमला की यह परिवर्तित, फीकी मनोवृत्ति जैसे उनके लिये सात्म्य हो गई थी। फिर भी अमला के प्रति एक उत्सुकता, प्रेम और सहानुभूतिमयी भावना

उदय के मन में थीं। अमला को किसी भाँति की कोई तकलीफ़ न रहने पावे, इस संबंध में उदय खूब ही सचेष्ट थे।

विवाह के डेढ़ वर्ष बाद अमला ने एक पुत्री प्रसव की। कन्या अतीव सुँदरी, सुमुखी और आकर्षक थी। उसके जन्म से अमला और उदय दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए। यह नन्ही-सी बच्ची अपने छोटे-से दूध के समान स्वच्छ पालने पर पड़ी चुपचाप अँगूठा चूसती, छू देने से हँसती, और पास जाने पर निर्मल नेत्रों से देखती रहती। वह अपनी अज्ञात भाषा में अपने पास आनेवालों से कुछ बातचीत भी किया करती। देखते-देखते वह बड़ी होने लगी।

नन्ही की पहली वर्ष-गाँठ का दिन था। उदय उन आदमियों में न थे, जो कन्या जन्म को पुत्र-जन्म से कम समझते हैं। उन्होंने बड़ी धूम-धाम से उसकी प्रथम वर्ष-गाँठ मनाई। मित्रों और परिजनों से घर भर गया। भाँति-भाँति के भोजनों और मनोविनोद के सामानों से आगंतुकों का स्वागत किया गया। अपनी-अपनी भेंट और बच्ची को आशीर्वाद देकर जब मेहमान बिदा हो गए, तो उदय बहुत-सी सटर-पटर चीजें नन्ही के लिए ख़रीदकर, हँसते हुए, घर आए। उनकी आँखों में हँसी थी, और दिल में चुहल। अमला के नव-वधू होकर घर आने पर भी वह चुहल उदय के मन में नहीं उदय हुई थी। अमला उन उल्लास-युक्त आँखों को देखती ही रह गई। परन्तु उदय की दृष्टि अमला की ओर नहीं थी। वह नन्ही की ओर उत्साह से देख रहे थे। अकस्मात् नन्ही के सिरहाने रक्खी एक गुड़िया पर उनकी दृष्टि पड़ी। वह भौंचक-से उस गुड़िया की ओर एकटक कुछ देर देखते उस गुड़िया की ओर पागल की तरह ताकते देख अमला से न रहा गया। उसने पूछा—"इसे इस तरह क्यों तक रहे हो ?"

"यह गुड़िया यहाँ आई कहाँ से ?"

"कहीं से आई, तुम्हें मतलब ?"

"मतलब बहुत है। इस गुड़िया को मैं पहचानता हूँ।"

"तुम ?"

"हाँ, यही वह गुड़िया है। तुम्हारे पास कहाँ से आई ?"

"मेरे पास यह बहुत दिन से है।"

"कितने दिन से ?"

"जब मैं बहुत नन्ही थी, तब से।"

"कहाँ से आई ?"

"एक बहुत अच्छे आदमी थे, उन्होंने दी थी।"

"तुम्हें दी थी—अमला ? तुम क्या कह रही हो ?"

"मुझे याद है, उन दिनों मैं बहुत छोटी थी।"

"तुम ?"

"हाँ, वह मुझे गोद में खिलाते थे। पेट पर उछालते थे। मेला दिखाने ले जाते थे। अंधा घोड़ा बनते थे। वह बहुत अच्छे थे ?"

"अमला !" उदय उन्मत्त हो रहे थे, उन्होंने कहा—"कहाँ की बात है यह ?"

"मेरे नाना के घर की।"

"तुम्हारे पिता तो लाहौर में हैं ?"

"पर मैं बचपन में नाना के घर बहुत दिन रही थी—वह इंजीनियर थे, और जंगल में नहर पर रहते थे।"

"अमला, तुम मुझे पागल कर दोगी। तो वह अच्छे आदमी कौन थे ?"

"यह याद नहीं। नाना के पास आते थे। मेरे लिये मिठाई लाते थे। एक दिन वह यह गुड़िया लाये थे, फिर नहीं आए। मैं पिताजी के यहाँ चली आई।"

"ओह, वह नन्ही-सी नटखट लड़की तुम हो अमला! तब तो तुम बहुत ही हँसती थीं। उन्होंने अमला के दोनो हाथ पकड़कर पास खींच लिया।"

अमला अचरज-भरी दृष्टि से देखने लगी। उदय ने कहा— "उन अच्छे आदमी को तुमने कभी याद नहीं किया अमला?" अमला कुछ-कुछ समझ गई थी। वह आँखें फाड़-फाड़कर पति की आँखों में छिपी उस विस्मृत, चिर-परिचित दृष्टि को पहचानने की चेष्टा कर रही थी। उसने प्रकंपित स्वर में कहा—"तो क्या सचमुच..."

"अमला, तुमने तो ख़ूब ढूँढ़ लिया मैं सोचता रहता था कि वह बालिका भी अब बड़ी हो गई होगी, अपने घर-बार की होगी। सो तुम बड़ी हो गईं। अपने घर-बार की हो गईं। तुम्हारे खेलने की यह सजीव गुड़िया तुम्हें मिल गई, सो तुमने अपनी बचपन की गुड़िया इसे दे डाली।"

दोनो चुपचाप कुछ देर अवसन्न खड़े रहे। तेरह बरस पूर्व की विस्मृत-सी बातें वे ख़ूब ध्यान से याद कर रहे थे। उदय सोच रहे थे, कैसी विचित्र बात है कि जिस बालिका को मैंने घुटनों पर खिलाया, वही अब मेरी अर्धाङ्गिनी और जीवनसंगिनी है। अमला सोच रही थी, वाह! यह तो ख़ूब रही। जब मैं नन्ही-सी बच्ची थी, तब यह इतने बड़े थे, अब मैं इनके बराबर हो गई।

समय और परिस्थिति ने क्या घटना उपस्थित कर दी! दोनो सोचने लगे। दोनो की दृष्टि उस बालिका पर पड़ी, जो पालने में अँगूठा चूस रही थी। एक बार दोनो ने एक दूसरे को देखा, और फिर हँस दिए।

इस बार फिर दोनो भली भांति एक हुए। न मालूम क्यों ? समाज और धर्म के विधान पति-पत्नी होने पर भी उन्हें उतना निकट न ला सके थे, जितना वे अब मधुर, किंतु विस्मृत और असम बाल्य-स्मृति से निकट आ गए।

जापानी दासी

यह घटना सन् १९१७ की है। यूरोप का घनघोर महायुद्ध चल रहा था। सारे संसार पर लोहू और लोहे का रंग चढ़ा हुआ था। जर्मनी का आतंक मित्र राष्ट्रों की नींद हराम किए था। उस समय जापान पर मित्र राष्ट्रों के, खासकर अंग्रेजों के, प्राण आ अटके थे। ग्रेट-ब्रिटेन, जो मित्र-राष्ट्रों का केन्द्र था, जापान की करुणाकोर का दीन भिखारी था। जापान के भ्रू-भंग होते ही एशिया से ब्रिटेन का नाम-निशान मिट सकता था।

जापान ने अपना महत्त्व समझ लिया था। जापान का टापू जैसा क्षुद्र और महासमुद्रों की जल राशि में मग्न एक नगण्य भूमि-खंड है, वैसे ही जापान के निवासी भी नाटे-ठिगने और पीत वर्ण होते हैं। वे इस समय लोहे के फ़ौलादी आदमियों की भांति पृथ्वी-भर में अपने व्यापार साम्राज्य का विस्तार करने पर तुले थे। उनके चारों ओर चांदी थी। अमेरिका, योरोप, एशिया और अफ्रीका, सभी तरफ़ के कला-कौशल व्यापार भंग थे। यातायात आतंक पूर्ण था। समुद्रीय-मार्ग में टारपीडो और विध्वंसकों का जाल बिछा था। इस जाल को भेदन करके किसी भी शत्रु-मित्र

के पोत का बच निकलना संभव न था। समुद्र में मानों आग लग रही थी। योरोप ने महामद्य पिया था, वह मतवाले की भांति अपना ही रक्त पी रहा था। सुदूर पूर्व की मुर्दार और निस्तेज जातियां भय, शंका और चिन्ता से भरी हुई मत्त योरोप का यह रण-तांडव देख रहीं थी।

व्यापार ही इस युद्ध का प्राण है, व्यापार ही इसका मूल कारण है, यह जापान समझ गया था। वह छोटी-सी पीली जाति, पौनिया नाग की भांति लहरा लहरा कर, इस सुयोग से लाभ उठा कर अपने उन्मुक्त व्यापार के लिये विश्वव्यापी द्वार का उद्घाटन कर रही थी। महान रण-पंडित और कट्टर राजनीतिज्ञ लायड जार्ज—जो उस समय मित्र राष्ट्रों के भाग्य-विधाता थे, जापान को अपना परम मित्र घोषित कर रहे थे। वह समझ गये थे, इसी मित्र की बदौलत, इस कठिन समय में, एशिया में ब्रिटिश तलवार का आतंक कायम रक्खा जा सकता है।

(२)

राजधानी टोकियो में लाखों मनुष्य पागल कुत्ते की भांति दिन भर और आधी रात तक दौड़ते रहते थे। साधारण कुली से बड़े-बड़े व्यापारियों तक की यह हालत थी। लोगों को घरों पर जाकर खाने की फ़ुरसत न थी। रुपये का मेह बरस रहा था, किसी चीज़ की मानो कोई दर ही न थी। मिट्टी सोने के मोल बिक रही थी। उस समय जापान सिर्फ एक दूकान थी। और सारा संसार इसका खरीदार था। भोजन के समय होटलों में भीड़ देखने योग्य होती, पर प्रबन्ध और व्यवस्था भी देखने योग्य थीं। सभी की सभी इच्छाएं पूर्ण होती थीं।

जापान में रहते मुझे बीस वर्ष होगये थे। मैं जापान की नस-नस से वाक़िफ़ था। मेरे जीवन का मुख्य भाग जापान में

व्यतीत हुआ था। जापान ही मेरा घर था। मैं अविवाहित ही रहा। घर से दरिद्रदेव की लात खाकर बचपन ही में भाग निकला था। यहां विदेश में लक्ष्मी की ठोकरें खाने से इतनी फ़ुरसत न मिलती थी कि देश जाकर किसी कन्या-भार-ग्रस्त पिता का कुछ उपकार सकूं। विदेशी रमणी को पत्नी बनाना ठीक नहीं समझा। जवानी की आंधी आई, और वासना के टिम-टिमाते स्नेह-हीन दीपक को एक ही झोंके से बुझाकर चल दी। जीवन अन्तिम रात्रि के शांति वातावरण की भांति बीत रहा था, मन और इन्द्रियों की चंचलता धीमी पड़ गई थी। हृदय अल-साया पड़ा था। सब काम आप ही चल रहा था। रुपयों का ढेर छमाछम नाचता हुआ आप ही मेरे ऊपर आ गिरता था, मुझे कुछ भी न करना पड़ता।

मेरे घर में मुझे छोड़ कर मेरी एक दासी है। उसे मैं एक दिन बाजार की एक गली से ले आया था। यह वहाँ उस दिन कुछ रुपया कमाने की इच्छा से अपने यौवन का सौदा सड़क पर बखेरे खड़ी थी। मुझे युवा और संपन्न देख इसने आँखों-ही-आँखों में मुझे अपने सौदे की तरफ़ अकर्षित किया। मैंने बातें की। और, जाना कि पिता का कर्ज़ चुकाने को यह कुमारी बालिका आज अपना कौमार्य बेचने आई है। इसका पिता एक किरानी का क्लर्क था। मैं उसके साथ जाकर उससे मिला। कुल सौ येन की उसे जरूरत थी, वह मैंने उसे देदिए, और सौ येन वार्षिक वृत्ति पर मैंने उसे नौकर रख लिया। यह आज से ३ साल पूर्व की बात है। तब से दिन रात मेरे घर रहती है। घर का सब काम करती, भोजन बनाती, सफ़ाई करती, कपड़े धोती और मेरी सब वस्तुओं को सँभालती है। मैं यह भूल गया हूँ कि वह मेरी दासी है।

इस बीच में मैंने उसे कभी विनय-हीन नहीं देखा। वह सदा हँसती है। अपने काम में उसने कभी प्रमाद नहीं किया। वह बिजली की भांति फुर्तीली है। उसने कभी मुझे असंतुष्ट नहीं किया। वह मुझे स्वामी कहकर पुकारती है, और मैं उसे उसका नाम लेकर। कभी-कभी प्यार में आकर मैं उसे 'बिजली' कहता हूँ। बिजली का अर्थ मैंने उसे जापानी भाषा में समझा दिया वह इस हिन्दोस्तानी नाम से बहुत खुश है। जिस दिन मैं उसे इस नाम से पुकारता हूँ, वह समझ लेती है, आज मैं उस पर बहुत प्रसन्न हूँ। और, वह उस दिन खूब गुन-गुनाकर गाती है, मेरे बिछौने पर नई चादर बिछाती है, तकिए पर सुगंधित सेंट छिड़क देती है, और मैं शयन करने जाता हूँ, तब वह द्वार पर खड़ी होकर मधुर हास्य से, धीमे स्वर में, बत्ती बुझा देने की आज्ञा माँगती है। आज्ञा मिलने पर बत्ती बुझाकर, दुःख की हास्य-रेखा की भाँति अपने सोने के कमरे में चली जाती है।

(३)

पंजाब की एक बड़ी फ़र्म से हमारा व्यापार है। वह फ़र्म रेशम की बड़ी करारी फ़र्म है। महायुद्ध के कारण भारत में रेशम के व्यापार को चार चाँद लग रहे हैं। माँग के मारे नाक में दम है। सुविधा के ख़्याल से इस फ़र्म के एक एजेंट जापान आए। वह पन्द्रह दिन से मेरे घर ठहरे हैं। वह एक ग्रेजुएट हैं। सुन्दर हैं, युवक हैं, अप-टु-डेट हैं। दांत बहुत सुन्दर हैं, बाल और भी साफ़। स्त्रियों के बेहद शौक़ीन हैं। व्यापार की योग्यता तो जो हो, सो ठीक है, स्त्रियों की परख की भारी योग्यता व्यक्त करते हैं। वह आए तो व्यापार करने हैं, हमारा उनका व्यापार-सम्बन्ध है भी, पर वह बातें सदैव स्त्रियों की किया करते हैं। उनके कहने का मतलब यह कि उन्होंने भारतवर्ष में सुना था कि जापान

में लड़कियाँ सड़कों की धूल में मिली रहती हैं। यदि किसी सड़क से एक मुट्ठी धूल उठा ली जाय, तो दो-चार सुन्दर युवतियाँ उसमें से निकल आना आश्चर्य की बात नहीं। स्त्री-चर्चा में मेरा निरुत्साह देख कर उन्हें बड़ी निराशा हुई।

मेरी दासी पर उनकी शुभ दृष्टि है, यह मैं उनके आने के दो-चार दिन बाद ही समझ गया। परंतु इस संम्बन्ध में कुछ कहना मैंने ठीक न समझा। मुझे विश्वास था कि उन्हें अपने गौरव और दासी को अपनी रक्षा का काफ़ी ख़्याल है। दासी को मैंने उनकी सब आवश्यकताएँ पूरी करने की खास आज्ञा दे रक्खी थी। वह बहुत ही तत्परता से उनकी ज़रूरतों को रफ़ा करती थी। वह उनकी बातों को न समझ कर घबरा जाती दी, फिर इशारे से समझाने पर हँस पड़ती थी। उस मधुर हास को बखेर कर जब वह चली जाती, तब यह मेरे नवयुवक मेहमान बटोर कर उसे हृदय में रख लेते थे। कुछ दिन में वह बहुत सा इकट्ठा हो गया। यह तो मैं कह ही चुका कि वह बहुत हँसती थी। अब वह बिखरा हुआ हास्य उनके हृदय में जमा होकर ऊधम मचाने लगा।

(४)

मुझे इन दिनों घर में रहने की बहुत कम छुट्टी मिलती थी। मुझे प्रायः दिन-दिन-भर और कभी-कभी तमाम रात बाहर रहना पड़ता था। मेरे यह मेहमान अधिकतर घर में पड़े रहते। उनका विश्वास था, दौड़-धूप की उन्हें क्या आवश्यकता है, उसके लिये मैं हूं ही। जापान में आकर घर में पड़ा रहना, दिन में तीन बार मछली, अंडा, केक और पुलाव खाना; छः बार चाय पीना, बिजली से दीदार बाजी करना, यही उनकी कर्तव्य-दृष्टि से काफ़ी है।

उस दिन मैं रात को लौट नहीं सकता था। मैंने फ़ोन में इस बात की सूचना बिजली को दे दी थी। मेरे मेहमान को कोई कष्ट न हो, तथा उन्हें खाना खिलाकर सुला दिया जाय, यह भी कह दिया था। आज रात को मैं घर न आ सकूँगा, यह जानकर मेरे मेहमान की धुकधुकी बढ़ गई।

बिजली ने उन्हें सब सूचना दी। वह गरमा-गरम खाना ले आई। खाने के बाद एक कप काफ़ी भी दे गई। इसके बाद ही जब वह उनके शयनगृह के द्वार पर बिजली का बटन पकड़कर खड़ी हुई, और मुस्कराकर बत्ती बुझाने को कहा; तो मेहमान महाशय ने लपककर, उसका हाथ पकड़कर चूम लिया। बिजली कुछ लाज, कुछ आदर से झुकी, शिष्टाचार के ख़याल से नाराजी मिश्रित तनिक मुस्कान उसके होठों पर आई। वह बत्ती बुझाकर अपने कमरे में जा सोई।

वह कभी अपना कमरा बंद करके नहीं सोती थी। वह दिन-भर की थकी-माँदी सो रही थी। दूध के फेन के समान उसके बिछौने पर चंद्रमा की उज्ज्वल, नीली किरणें पड़ रही थीं। उसके सुनहरे बाल बिखर रहे थे, और अर्ध-नग्न वक्षःस्थल साँस के साथ उठ बैठ रहा था। गर्मी थी, और उसके शरीर पर सोने के समय की हलकी पोशाक थी।

मेरे मनचले युवक मेहमान की आँखों में नींद न थी। बिजली की लहर उनके मन में लहरा रही थी। वह साहस करके उठे। जूता उन्होंने नहीं पहना। वह पंजे के बल ऊपर की मंज़िल पर चढ़ गए। उन्हें मालूम था कि वह किस कमरे में सोती है। वहाँ जाकर उन्होंने बिजली का उन्मुक्त सौंदर्य आँख भर देखा। वह मुग्ध होकर देखते रह गये!

उन्होंने और भी साहस किया, वह भीतर घुस गये। द्वार बंद कर दिया, और बिजली के पलंग पर बैठ गए।

आहट पाकर वह उठ बैठी। क्षण-भर ही में उसने परिस्थिति को समझ लिया। वह उछल कर खड़ी हो गई। उसके खड़े होने के वेग और आकस्मिक धक्के को मेरे मेहमान न सहन कर सके, वह औंधे मुँह गिर गए। बिजली ने लपककर बत्ती जला दी।

बिजली के प्रकाश में वह छातीं पर दोनों हाथ धरकर, दीवार से सटकर खड़ी होगई, और क्रोध-भरे नेत्रों से घूर-घूरकर उन्हें देखने लगी। उसके होठ फड़के, उसने घृणा से होठ हिलाए। और उन्हें बाहर निकल जाने का हुक्म दिया। मेहमान महाशय वासना के मद्य में गड़ गये थे। वह निर्लज्ज हँसी हँसते हुए, हाथ फैला कर आगे बढ़े। उन्होंने जेब से नोटों का बंडल निकाल-कर बिजली के आगे डाल दिया।

बिजली ने उसे पैरों तले कुचल डाला, और दाँत पीसकर कहा—"बाहर जाओ, कुत्ता!" वह टूटी-फूटी हिंदी बोल लेती थी। मेहमान महाशय ने धृष्टता पर कमर कसी थी। वह बल-पूर्वक उसे आलिंगन करने आगे बढ़े।

बिजली वहाँ से उछली। उसने पास पड़ी एक कुर्सी उनके सिर में दे मारी। उसने खिड़की खोली, बाहर झांका, और कूद गई।

(५)

प्रातःकाल मेरे सेक्रेटरी ने अँधेरे ही मुझे जगाया, और घर पर कुछ दुर्घटना हो गई है—पुलिस घर पर आई है, इसकी सूचना दी। मैंने आकर देखा। पुलिस के कमिश्नर बिजली का अंतिम बयान ले रहे हैं। उसकी पसली और रीढ़ की हड्डी चकनाचूर हो गई है। वह बड़े कष्ट से साँस ले रही है। वह

रुक-रुककर बड़े धैर्य से सब घटना बयान कर रही थी। मुझे देखकर वह मुस्कराई। उसने मुझे प्रणाम किया, और अलविदा कहा। इसके बाद उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

पुलिस ने मेरे भी बयान लिए। मुझे सत्य-सत्य सब कुछ कह देना पड़ा। मेहमान साहब को बचाने की काफ़ी चेष्टा की गई, पर वह बच न सके। एक स्त्री की इज्ज़त के लूटने की चेष्टा करने तथा उसे प्राणांतक ख़तरे में डालने के अपराध में जापान की स्वाधीन सरकार ने उन्हें ७ वर्ष का कठिन कारागार दिया।

बिजली का एक चित्र मेरे पास है, उसे लेकर मैं देश लौट आया हूँ। वह उसी भांति मेरे साथ है, और तन-मन से मेरी सेवा कर रही है।

हेर फेर

लाहौर में स्वदेशी प्रदर्शिनी की बड़ी धूम थी। दिन छिपते ही वजहदार स्त्री-पुरुषों के ठठ-के-ठठ वहाँ जा जुटते थे। इस नुमाइश में उद्योग-धंधे, कला-कौशल की कोई ऐसी चीजें नहीं दिखलाई गई थीं, जिससे देश के करोड़ो बेकार युवकों या अभागिनी, असहाय स्त्रियों को कोई पेट भरने का धंधा मिले। इसमें सैकड़ों दुकानें ऐसी थीं, जिनपर माँग-पट्टी से चाक-चौबन्द, सूट-बूटधारी युवक सुनहरा चश्मा चढ़ाए अपने दिलचस्प ग्राहकों की आवभगत हँस-हँसकर और तीन-तीन बल खाकर, करने को डटे खड़े रहते थे। इनकी ग्राहिकाएँ थीं बहार-दार लेडियाँ, फ़ैशन की पुतलियाँ या मर्दनुमा साहसी युवतियाँ, जिनका फ़िजूलखर्ची एक धंधा ही हो गया है। वे सब एक-से-एक बढ़कर साड़ियाँ पहने, ऊँची एड़ी के जूते कसे, तितलियाँ बनी फिर रही थीं। प्रत्येक दुकान पर इन्हीं के मतलब का ढेरों माल भरा हुआ था। जहाँ खड़ी हो जातीं, युवक दूकानदार आँखें बिछाते, मुस्किराहट के जाल फैलाते, बलिहारी जाते और झुक-झुककर जमनास्टिक की-जैसी कसरतें करते थे।

इन प्रदर्शिनियों से और कुछ हो चाहे न हो, पर दो काम तो अवश्य हो जाते हैं—एक तो स्त्रियों को फ़िजूल सामान ख़रीदने के संबंध में बहुत काफ़ी उत्तेजना मिल जाती है, जो वे सजे-धजे दूकानदारों से दुगने मोल में ख़रीदती हैं; दूसरे, यारों को आंखें सेकने का अच्छा स्थान और अवसर मिल जाता है।

शाम होते ही युवकों के झुँड-के-झुँड टोली बाँधकर प्रदर्शिनी में आजाते हैं। बीसवीं सदी में पंजाब ने जो अल्हड़ बछेड़ियाँ पैदा की हैं, वे किस लापरवाही से अपने मनोरंजक, धारीदार, घुटनों तक लटकते कुर्तों को हवा में फरफराती, सलवार को हिलातीं, दुपट्टी को लापरवाही से हवा से अठखेलियाँ करने का अवसर देती, अपने रूप को रास्ते में बखेरती फिरती हैं, यह सब देखना इनयुवकों का सांध्य कृत्य होता है!

एक-एक की नख-शिख-आलोचना होती है। किसके आँख, नाक, बाल कैसे हैं? रंग कैसा है? नजर कैसी? कौन किसकी बहू-बेटी, भतीजी-भांजी है? किसकी तरफ़ गर्दन मरोड़कर देखा? किसने कटाक्ष-पात किया? ये ही महान् विषय इन पढ़े-लिखे सुसभ्य लाहौरी युवकों की चर्चा के विषय होते हैं। वास्तव में ये प्रदर्शिनियाँ स्वदेशी वस्तुओं की नहीं, प्रत्युत विदेशीनुमा प्यारे स्वदेशी युवक-युवतियों की होती हैं। यही कारण है कि इनमें कोई नवीनता न रहने पर भी, फ़िजूल खर्च होने पर भी शाम से जो भीड़ का जमघट जुटता है, तो आधी रात तक रहता ही है।

(२)

बसंतलाल हृष्ट-पुष्ट जवान थे। आँखों में रस था, और चेहरा दमकता हुआ, जिससे प्रतिभा झलकती थी। काव्य के प्रेमी और सौंदर्य के उपासक। उन्हें प्राकृतिक दृश्य देखने का बड़ा शौक़ था। काश्मीर, मसूरी, शिमला सब उनका

देखा हुआ था। वह बनारस के निवासी थे, प्रकृत साहित्यिक थे। हिंदी के प्रेमी थे, कवि और लेखक भी। अभी अनुभव और विद्या-प्रौढ़ता न थी, पर क़लम में ओज और रस था। उनके यश की चाँदनी धीरे-धीरे हिन्दुस्तान भर में फैलती जा रही थी। अपने तीन-चार लाहौरी मित्रों के साथ एक दिन बसंतलाल भी प्रदर्शिनी में गए। वह पूरब के पर्दे के अभ्यस्त थे। पूर्व भारत में पर्दा उठा है सही, पर उसे पर्दा उठना नहीं कह सकते। वहां की पर्दे में कुचली हुई, मुर्झाई हुई, पिलपिली, बासी ककड़ी के समान स्त्रियों को उन्होंने महिला रूप में देखा था। अब जो यहाँ पंजाब में आए, तो पंजाबी बछेड़ियों को देखकर दंग रह गए! महीन तबियत के आदमी थे, रूप किसी का पसंद न आता था। वह कवित्व की दृष्टि से देखते, एक-आध ऐब दिखलाई ही पड़ जाता। उन्हें यहाँ सब से बुरा तो यह मालूम हुआ कि ये स्वस्थ; सुन्दर, कनक-छरी-सी युवती लड़कियाँ और ललनाएँ किस लापरवाही और फूहड़ ढंग से खोमचे वालों के इर्द-गिर्द बैठकर दनादन पत्ते चाट रही हैं। वह पर्दे के पक्षपाती तो नहीं, पर मर्यादा, सुघराई और शिष्टाचार के हिमायती थे। सोचने लगे, ये हुड़दंगी बछेड़िया हैं या भले घर की लड़कियां? किसी भले आदमी की तनख्वाह तो ये आलू-छोलों की चाट में ही उड़ा दे सकती हैं!

सब मित्र घूम रहे थे। बातचीत का जोर बँधता ही जाता था। विवाद के मुख्य विषय थे टाकी-फ़िल्म और हिन्दी।

एक मित्र ने कहा—"टाकी फिल्मों का जैसे-जैसे ज्यादा जोर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे देश में हिन्दी का प्रचार भी खूब बढ़ रहा है। हिन्दी-उर्दू का भेद भी मिटता जा रहा है।"

दूसरे ने कहा—"अब तो ऐसा मालूम हो रहा है कि बहुत

शीघ्र पंजाब में भी हिन्दी-ही-हिन्दी हो जायगी। यहां औरतों ने तो राष्ट्र-भाषा को बहुत कुछ अपना लिया है। सिर्फ विलायती सभ्यताप्रेमी मर्द लोगों में ही अभी तक अँगरेजी का बोल-बाला है। शायद ये लोग अँगरेजी से राष्ट्र-भाषा का काम लेना चाहते हैं। इनकी आँखें कब खुलेंगी?"

शहर में सुलोचना की ताजी फ़िल्म आई थी, यार लोगों ने उसकी भी चर्चा उठा दी। एक मित्र लगे सुलोचना के नख-शिख की आलोचना करने। उस आलोचना में कुछ सौंदर्य-ज्ञान था, कुछ भावुकता, कवित्व और कुछ आवेश। यार लोग सुन रहे थे, हँस रहे थे, फड़क रहे थे। वह मित्र सुलोचना का आपे से बाहर होकर नख-शिख-वर्णन कर रहे थे। एकाएक एक दूसरे मित्र ने कहा—"उस्ताद! इस रूप की प्रदर्शिनी में सुलोचना के जोड़ की कोई चीज टटोली जाय।" एक ज़ोर के ठहाके के साथ प्रस्ताव का ज़ोरों से अनुमोदन और समर्थन हुआ। मंडली सुलोचना की एक प्रतिमूर्ति की तलाश में प्रदर्शिनी में घूमने लगी। वे लोग प्रत्येक स्त्री को, युवती को, कुमारी को देखने—अपनी नज़रों में तोलने लगे।

एकाएक बसंतलाल चिल्ला उठे। जिसे देखकर वह चिल्लाए थे, उसने चौंककर उनकी ओर देखा—आँखें चार हुईं, और फिर झुक गईं मित्रों ने पूछा—"क्या हुआ?" बसंतलाल ने एक युवती की ओर संकेत किया। सचमुच वहाँ ५ साल पहले की सुलोचना खड़ी अपनी माधुरी बखेर रही थी। वही क़द, वही रंग-रूप वही सुडोल शरीर, वही रसीली आँखें, वही मुस्किराते हुए होठ।

युवती की अवस्था १६-२० वर्ष की थी। उसे देखकर मित्र-मंडली स्तंभित रह गई! ऐसा मनोहर रूप, रंग, शरीर सदा देखने को नहीं मिलता। सुंदरी किसी दूकान पर एक ज़री-कोर की

सफेद साड़ी ख़रीदने में व्यस्त थी। साथ में माता और एक नौकर था। मित्रों की पार्टी दूर ही से इस रूप-सरिता का रस-पान करने लगी। बसंतलाल के हृदय के किसी अज्ञात स्थल पर एक नवीन वेदना उत्पन्न हुई। वह विकल होकर और भी गंभीरता से उसे देखने लगे। कुछ ही देर यह मूक, किंतु चंचल अभिनय हुआ होगा कि किसी ने पीछे से बसंतलाल के कंधे को छुआ। देखा, उनके चिरपरिचित पंडित धरानन्द हैं। दोनों मित्र मिले। कुशल-प्रश्न के बाद पंडितजी का ध्यान उस परिवार की ओर गया, जिस पर मित्र-मंडली के नेत्र भ्रमर की भाँति मँडरा रहे थे। उन्होंने कहा—"अरे, माताजी हैं।" वह आगे बढ़े। माताजी से मिले, और बसंतलाल को बुलाकर उनसे मिलाया। परिचय दिया, तारीफ़ की।

माताजी ने कहा—"मुझे तो पढ़ने-लिखने का समय नहीं मिलता, किंतु मेरी कन्या आपके लेख बड़े चाव से पढ़ती रहती है। आपसे मिलने से बड़ा आनन्द हुआ।"

उन्होंने बसंतलाल का कन्या से भी परिचय करा दिया। फिर दोनों मित्रों को चाय का निमंत्रण देकर आगे बढ़ गई। बसंतलाल ने सब कुछ पा लिया।

(३)

चाय पान तो हुआ ही, साथ ही बहुत-सी गप-शप भी हुई। बसंतलाल ने देखा, हेमलता केवल अद्वितीय सुंदरी ही नहीं, असाधारण बुद्धिमती और विदुषी भी है। पीछे उन्हें यह भी मालूम हो गया कि वह बी० ए० की तैयारी में है।

कन्या भी बसंतलाल के रूप-गुण, सरलता, और भावुकता से बहुत प्रभावित हुई। उसकी आँखों के लजीले भाव, मंद-मंद हँसने की अदा और क्षण-क्षण पर गोरे-गोरे गालों पर खेल

करने वाली लाली ने बसंतलाल को कुछ और ही तत्व समझा दिया। बसंतलाल की आत्मा मानो झकझोरी-सी गई। वह कुछ विकल, कुछ चंचल और कुछ अप्रतिभ-से होकर उस दिन वहाँ से उठ आए, पर उस चितेरी की चितवन की कूंची से जो चित्र चित्त पर चित्रित हो गया था, वह मिटाए नहीं मिटता था।

परन्तु मिलने और आने-जाने का रास्ता तो खुल ही गया था। वह खुला ही रहा। प्राय: प्रत्येक संध्या उनकी वहीं बीतती कभी-कभी भोजन भी वहीं होता। अनेक बार उन्हें बालिका से एकांत में बात करने का अवसर भी मिला। अतत: उन्होंने अपना निवेदन कन्या से कह दिया। कन्या ने लजीले स्वर मुस्किराकर कहा—"जहाँ माता-पिता विवाह कर दें, वहीं ठीक है।" उसकी लाज और मुस्किराहट की गंगा-यमुना के बीच अनुमति की सरस्वती छिपी हुई सरसा रही थी।

बसंतलाल ने मानो चाँद पाया। उन्होंने धरानंदजी के द्वारा संदेश भेजा। इस संदेश पर विचार होने लगा। उनके कुल-वंश और आय-व्यय की जाँच होने लगी। अंत में एक दिन कन्या की माता ने कह दिया—"और सब तो ठीक है, पर इनकी आमदनी यथेष्ट नहीं, यही बात विचारणीय है।"

बसंतलालजी की आय दो सौ रुपए माहवार थी। यही उनकी संपत्ति थी। इसमें संदेह नहीं कि अपनी मौजूदा आमदनी को लेकर वह रायसाहब की अमीरी में पली पुत्री हेमलता को सुख से नहीं रख सकते थे। पर यह बात उन्होंने हेमलता से कह दी थी, और हेमलता ने उन्हें आश्वासन दिया था—"हम लोग सीधे-सादे ढंग से रहेंगे, लिखें-पढ़ेंगे, काव्य और साहित्य में मस्त रहेंगे, दुनिया को हेच समझेंगे, मैं धन-दौलत नहीं चाहती, तुम्हें प्यार करती हूँ। और, ईश्वर चाहेगा, तो हमारी आमदनी

बढ़ते देर न लगेगी। मैं विवाह रुपए से नहीं, तुमसे करना चाहती हूँ।"

परन्तु यह सब व्यर्थ हुआ। वसंतलाल की बात स्वीकार नहीं की गई। हेमलता की माता का हठ था कि २५ हजार मूल्य की जायदाद मेरी लड़की के नाम जो कर देगा, उसी के साथ मैं शादी कर सकती हूँ। यदि वसंतलाल हेमलता से विवाह करना चाहते हों, तो २५,०००) का एक मकान खरीद कर पहले उसके नाम लिख दें। जो मेरी कन्या को आलीशान मकान में नहीं रख सकता, वह उसे पाने के योग्य कदापि नहीं।

वसंतलाल अति मर्माहत होकर लाहौर-से चले आए। चलती बार उन्होंने हेमलता से अंतिम भेंट की, उस में दोनों आंसुओं का ही विनिमय कर सके।

(४)

बारह बरस बाद।

वसंतलाल अब हिंदी-साहित्य-आकाश में सूर्य की भांति देदीप्यमान थे। लाहौर में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की धूम थी। बसंतलाल सभापति बनकर आए थे। उनके रूप-रंग में बहुत अन्तर हो गया था। अपनी लिखी पुस्तकों से उन्हें हजारों रुपए महीने की आय हो रही थी। कई प्रांतों में उनकी किताबें एम० ए० तक कोर्स में थीं। बड़े-बड़े राज-परिवारों में उनकी प्रतिष्ठा थी।

लाहौर-नगर में उनका जुलूस बड़ी शान के साथ निकला। सम्मेलन सफलता-पूर्वक संपन्न हुआ। आखिरी दिन उन्हें एक पुर्जा मिला। उसमें केवल इतना लिखा था—"पत्र-वाहक के साथ कुछ क्षणों के लिये आइए। अवश्य।"

वसंतलाल ने पत्र-वाहक को देखा, एक वृद्ध नौकर था। पूछने

पर उसने बताया, बीबीजी ने बुलाया है। बीबीजी कौन हैं? यह वह नहीं बता सका। उन्होंने इसकार्य के औचित्य पर कुछ-विचार किया, उन्हें कौतूहल हुआ, और अंत में उन्होंने वहाँ जाने का निर्णय किया। वह उसके साथ चल दिए।

एक गली में वह उन्हें ले गया। मकान में घुसकर उन्होंने देखा, मकान साधारण और पुराना है, किन्तु खूब साफ़ है। दालान में दो कुर्सियाँ और एक मेज़ पड़ी थी मेज़ पे एक साफ़ कपड़ा बिछा था। भृत्य ने कुर्सी पर बैठने को कहा। बंसतलाल के बैठ जाने पर वह भीतर चला गया, और थोड़ी देर में कुछ फल लाकर आगे धर दिए। मन न होने पर भी बंसतलाल ने फल खाए। वह समझ ही न सकते थे कि मामला क्या है।

उन्होंने भृत्य से कहा—"मुझे जिन्होंने बुलाया है, वह कहाँ हैं? मैं अधिक ठहर नहीं सकता।"

बूढ़े ने कहा—"वह क्षण-भर में अभी आती हैं।"

क्षण भर में वह आई। बंसतलाल ने पहचान लिया। हेमलता है। वह उठ खड़े हुए।

उन्होंने पूछा—"आप? मैंने यही सोचा था!"

हेमलता ने शांत, स्वर में कहा—'बैठिए, आप प्रसन्न तो हैं?"

बंसतलाल ने देखा, वह दुबली, फीकी, रोगी हो रही हैं। उसके रसीले नेत्रों का वह तेज, सदा हँसते हुए चेहरे की वह चमक सब मिट चुकी है। आँखों के चारों ओर कालौंस दौड़ रही है। वह रूप-लावण्य जाता रहा है।

उनका कलेजा हिल गया। हेमलता की बात उन्होंने सुनी नहीं। उन्होंने पूछा—"परन्तु आपको मैं इस दशा में देखने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता था!"

हेमलता ने हँस कर कहा—"आप साहित्यक है अवश्य, किंतु

सभी बातों की कल्पना तो आप कर नहीं सकते। कवि की कल्पनाएँ तो काल्पनिक होती हैं। वस्तु-दर्शन तो दुखियों को ही होता है।"

बसन्तलाल उस हँसी को न देख सके, उनकी आँखें भर आईं हेमलता भी रोई।

बसंतलाल ने उसे अपने जीवन की व्यथा कहने को विवश किया। उन्होंने पूछा—"तुम्हारे पति कहां हैं?"

"जेल में। कुछ जाल करने के जुर्म में उन्हें ७ वर्ष की जेल हुई है। अभी २॥ वर्ष ही व्यतीत हुआ है।"

"मैंने सुना था, उनकी बहुत जायदाद थी, और वह बड़े आदमी थे। किसी स्टेट में सेक्रेटरी थे।"

अपनी जायदाद मेरे नाम लिखकर ही उन्होंने मुझसे व्याह करने में कामयाबी हासिल की थी, क्योंकि माताजी की कमजोरी को उन्होंने ठीक समझ लिया था। पर पीछे मालूम हुआ कि जायदाद उनकी सब पहले ही रेहन थी, उन पर काफी क़र्ज़ था। उनका वह हिबेनामा पीछे नाजायज़ ठहरा, सब जायदाद नीलाम हो गई। कुछ भी न बचा। उन्हें शराब पीने की अजहद आदत थी, और शराब के साथ जो दुर्गुण हो जाते हैं, वे भी उनमें आ गए थे। नौकरी जाती रही। मुझे माताजी से जो कुछ मिला था, वह भी खर्च हो गया।"

"माताजी कहाँ हैं?"

उनका तो स्वर्गवास हो गया।

बसंतलाल का कलेजा मुँह को आ रहा था। उन्होंने कहा—"क्षमा करना, मैं जानना चाहता हूँ कि आप की गुज़र कैसे होती है? रंग-ढंग से तो कुछ-कुछ समझ गया हूँ।"

हेमलता ने ठंडी सांस भरकर कहा—"यहां कन्या-पाठशाला में एक नौकरी मिल गई है। १००) मिलते हैं। पाँच बच्चे हैं। उनकी पढ़ाई में भी काफ़ी ख़र्च हो जाता है।"

बसंतलाल चुपचाप कुछ सोचने लगे। उन्होंने आँख उठाकर हेमलता को देखना चाहा, पर देख न सके।

हेमलता ने हँस कर पूछा—"वह कैसी हैं ? कभी दिखलाइगा नहीं ?"

बसंतलाल भी हंस दिए। उन्होंने एक बार हेमलता की ओर देखा, और फिर अन्यत्र देखते हुए कहा—"विवाह मेरे भाग्य में न था, लता ! मैंने जीवन-भर अविवाहित रहने का प्रण करके ही लाहौर छोड़ा था।"

हेमलता के सुन्दर होंठ काँपने लगे। उसने उसी भाँति काँपते हुए कहा—"क्यों ?"

"क्या भूल गईं ? उस रोज़ हम लोगों ने क्या प्रतिज्ञा की थी ? तुमने कहा था, मर्द कभी प्रतिज्ञा नहीं निबाहते। उस समय मैं चुप होगया था। आज भी चुप हूँ। जीवन के अन्त में यदि मिल सकोगी, तो कहूँगा—देखो यह मर्द की प्रतिज्ञा !"

हेमलता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। वह बहुत कुछ कहना चाहती थी, पर कुछ कह न सकी। वह बड़ी देर तक रोती रही।

कुछ देर बाद साहस करके बसंतलाल ने कहा—"लता, क्या तुम्हारे मन में मेरा कुछ आदर है ?"

"आदर, सिर्फ़ आदर ?" हेमलता ने आँसूभरी आँखों से उन्हें देखकर कहा।

बसंतलाल ने इस बार धरती की ओर ताककर कहा—"हाँ

ख़ता, सिर्फ़ आदर ही की बात मैं पूछता हूँ, और कोई बात ज़बान पर न लाना।"

हेमलता ने कंपित स्वर में कहा—"मैं आपका देवता की भाँति आदर करती हूँ।"

"तब तुम मेरी बात सुनो। पति के लौट आने तक मेरा कुछ धन ग्रहण कर लो।"

हेमलता के आँसू सूख गए। उसने कहा—"मेरा पति पतित तो है, पर मैं पति पद की प्रतिष्ठा की रक्षा करूँगी। आपका धन मैं नहीं लूंगी। मुझे कोई कष्ट नहीं है। परन्तु आप मेरी एक बात मानें, तो कहूँ।

"कहो।"

"आप अवश्य ही ब्याह कर लें। मैं विनती करती हूँ, हा-हा खाती हूँ, यदि मेरा दुख दूर किया चाहते हों।"

वह धरती में पछाड़ खाकर गिर पड़ी, फूट-फूटकर रोने लगीं।

वसंतलाल का धैर्य च्युत हो रहा था। उन्होंने कहा—"उठो लता, मैं तुम्हें छू नहीं सकता। मेरे सामने इतना न तड़पो तुम्हारा यह वेश ही मेरे दर्द के लिये बहुत हैं। अपना अनुरोध भी वापस ले लो। जिस प्रतिष्ठा की रक्षा के विचार से तुम मेरा धन नहीं ग्रहण करतीं, उसी प्रतिष्ठा की रक्षा के विचार से इस जन्म में मैं विवाह नहीं कर सकता। हेमलता, ईश्वर जानता है, मैं तुम्हारी अपेक्षा अधिक सुखी हूँ। अफ़सोस यही है, तुम्हें उस सुख में से कुछ भी नहीं दे सकता।"

हेमलता कुछ देर धरती में पड़ी रही। वसंतलाल कुछ देर सोचते बैठे रहे। फिर आकर खड़े हुए। उन्होंने कहा—"उठो लता तुम महावीर स्त्री हो, तुम धन्य हो। मुझे हँसकर बिदा दो। मैं जा रहा हूँ।"

हेमलता उठ खड़ी हुई। उसने आँचल सिर पर खिसकाकर ठीक किया। उसकी आँखों में वेदना और करुणा नाच रही थी। उसने कहा--"जा ही रहे हो ?"

"हाँ लता !"

"कभी पत्र लिखूँ ?"

"नहीं ऐसा कभी न करना।"

"कभी मिलोगे ?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"कभी नहीं।"

"नहीं,कभी नहीं।"

कुछ देर वह चुप रही। उसके नेत्रों में एक अद्भुत ज्योति चमकी। उसने धरती पर बैठकर बसंतलाल के चरण छुए, माथा टेका, फिर कहा—

"आशीर्वाद तो दोगे ?"

"सदैव।"

वह कहे तो ?

अनारकली में उस की एक आलीशान कपड़े की दूकान थी। वह एक उच्च वंश का खत्री था। उसकी आयु २२ वर्ष के लगभग होगी। गोर रंग, छरहरा बदन, काली, चमकीली आँखें, ऊँची नाक और मोती-से दाँत थे। वह एक लखपती व्यापारी का बेटा था। एकलौता कहना चाहिये। घर में अकेला था। सबका प्यारा, आँखों का तारा। उसकी की शिक्षा बहुत मामूली थी। पुराने विचार के धनी लोग यह समझते हैं कि लड़कों को नौकरी-पेशे के लिये पढ़ाया जाता है। पिता ने उसे इतनी ही शिक्षा देना काफी समझा, जिससे वह दूकान के काम-काज और हिसाब किताब में उसकी मददकर सके। फिर भी वह बुद्धिमान् और प्रतिभा-संपन्न था, उसकी प्रकृति गंभीर थी, और वह निरंतर कुछ सोचा करता था। फिर भी उसने दूकान के काम को अनायास ही सँभाल लिया। वह चतुराई और तत्परता से सब काम झटपट कर डालता था। उसके विनयी स्वभाव और सद्व्यवहार से ग्राहक और नौकर, सभी संतुष्ट थे। वह सबके विश्वास, प्रेम तथा आदर का पात्र था। उसके पिता को उस पर गर्व था। उसने अपने

जीवन-भर की कमाई वह दूकान उसे सौंप दी थी। वह दूकान पर आता जरूर था, परन्तु गद्दी पर बैठा-बैठा सिर्फ़ माला ही जपा करता था। कार-बार सब कुछ बंसी के हाथ था। हाँ उसका नाम बंसीधर था।

बंसी में एक असाधारण दोष था। उसको दोष कहना चाहिए या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसका पिता—जो सब से अधिक प्यार करता था, और उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाता था—उसके इस दोष की ढोल पीटकर निंदा किया करता था, इसलिये हमें भी उसे दोष ही मानना पड़ा। परन्तु आजकल के अशिक्षित नवयुवक उसे दोष नहीं, गुण कहते हैं। हाँ, बंसी-जैसे अल्पशिक्षित नवयुवक के लिये यह एक दोष ही समझा जा सकता था, क्यों कि धनी बाप के बेटे के लिए यह एक नई-सी बात थी। वह दोष यह था कि वह स्त्रियों से दूर भागता था, और ब्याह के नाम से भड़कता था। मां-बाप ब्याह की चर्चा चलाते, तो वह रूठकर खाना-पीना छोड़ देता या रोने लगता। और, दूसरे आदमी अगर इस चर्चा को छेड़ते, तो वह छूटते ही गालियाँ देता और कभी-कभी खीजकर मारने को दौड़ता। फलतः विवाह उसकी एक चिढ़ होगई थी। विवाह के नाम पर मा-बाप उसकी निंदा किया करते और यार-दोस्त चिढ़ाया करते थे।

(२)

दिन बीत रहे थे, और यह बात पुरानी हो रही थी। गर्मी के दिन थे, संध्या का समय। दो स्त्रियाँ धीरे-धीरे आईं, और दूकान पर बैठ गईं। दूकान पर बहुत भीड़ थी, बंसी को ग्राहकों से फ़ुर्सत नहीं थी। उन स्त्रियों में एक वृद्धा थी, और दूसरी अज्ञात-यौवना। पंजाब के स्वास्थ्य-वर्द्धक जल-वायु में पलने के कारण उसके चेहरे का रंग सेब की भाँति रंगीन हो रहा था। उस गोरे,

सुडौल और आरोग्यता की लाली से भरे हुए चेहरे पर आम की फाँक के समान बड़ी-बड़ी आँखें और कोमल, नोकदार नाक बहुत ही शोभा पा रही थी। बालिका के शरीर में यौवन ऊधम मचा रहा है, इसकी मानो उसे कुछ खबर ही न थी। वह अपने चिर-सहचर शैशव का पल्ला पकड़े, मानों उस दूकान पर चली आई थी। वह अपनी दादी के साथ कुछ कपड़ा लेने आई थी। उसे इस बात का खयाल भी न था कि उसका यह छलिया सहचर चाहे जब उसे धोका दे सकता है, और अब उसी के भरोसे हाट-बाज़ार में घूमना उसके लिये निरापद् नहीं है।

बंसी ने उसकी एक झलक देखी। उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे उसकी एक पसली अपनी जगह से हिल गई हो। एक दर्द जो उसके जीवन की नई चीज़ थी, उसके हृदय में पैदा हुआ। उसका सारा शरीर पसीने से भर गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह अभी अपनी जगह से गिर जायगा। वह लड़खड़ाता हुआ उठा, और बालिका के बिलकुल नज़दीक आकर बोला—"क्या चाहिए तुम्हें?" उसके नथने फूल गए, और साँस चढ़ गई। उसकी आँखों से ज्वाला की लहर-सी निकलने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसे छू लेगा। बालिका बोली—नहीं। अपरिचित युवक के ऐसे व्यवहार से घबराकर वह सहमी हुई-सी अपनी दादी की ओर देखने लगी। युवक ने बिलकुल पागल की तरह एक के बाद एक थानों का ढेर लगाना शुरू कर दिया। उसके हाथ मशीन की भाँति चल रहे थे। ढेर बढ़ता ही चला जा रहा था। उसकी साँस के साथ ज्वाला निकल रही थी, और हृदय की धुकधुकी बेतरह बढ़ गई थी। उसके पिता और नौकर-चाकरों ने आश्चर्य-चकित होकर युवक की इस चेष्टा को देखा। वृद्धा ने क्रोध से लाल होकर, बालिका का हाथ पकड़कर कहा—"चल

सुहागी, यहाँ ठहरने का कोई काम नहीं, ये लुच्चे हैं, दूकानदार नहीं।" बुढ़िया क्रोध की विष-भरी दृष्टि से युवक को देखती हुई, लड़की को एक प्रकार से खींचती हुई उठ कर चल दी। उसके जाने पर बंसी के बाप ने गुस्से से चिल्लाकर कहा—"तुम्हारी यह नालायकी खूब रही! किसी की बहू-बेटी की इज्ज़त-आबरू अब तुम्हारी दूकान पर आने पर बचना मुश्किल है। मेरे ही सामने तुम्हारी यह हरकत!" बूढ़ा क्रोध में आकर उठा, और बंसी को दोनों हाथ से झकझोर डाला। परन्तु बुड्ढे को ज्यादा ज़ोर न लगाना पड़ा, बंसी गिरकर बेहोश हो गया, उसकी आँखें पलट गईं, और साँस ज़ोर-ज़ोर से चलने लगी।

(३)

कई महीने के उपचार से बंसी कुछ स्वस्थ हुआ। जब तक वह बदहवास रहा, तब तक अस्फुट स्वर में सुहागी का नाम लेकर कभी हँसने लगता, और कभी इधर-उधर देखने लगता। कभी वह किसी वस्तु या आदमी को लक्ष्य करके और उसी को सुहागी समझकर इस तरह बातें करता, मानो वह दूकान पर बैठा हुआ कपड़े का थान बेच रहा है। वह हँस-हँसकर थानों की तारीफ़ करता, और कहता, ले जा सुहागी, यह तेरे ऊपर खूब सोहेगा।

होश में आने पर बंसी ने फिर सुहागी का नाम नहीं लिया। धीरे-धीरे वह फिर अपनी दूकान के काम में लग गया। परन्तु उसका चेहरा पीला ही पड़ता गया, और उसकी आँखें गढ़े में धँस गईं। उसका खाना-पीना, बातचीत, सब कुछ असंयत हो गया। मानो वह किसी गूढ़ जगत् में विचर रहा हो। माता-पिता ने बहुत समझाया। विवाह की चर्चा फिर ज़ोरों से चली, पर बंसी ने सुनी अनसुनी कर दी। सुहागी की चर्चा अब सर्वत्र फैल गई है। बहुत लोग नहीं जानते कि सुहागी कौन है, पर अब

रास्ता चलते भी लड़के उसे चिढ़ाते हैं ; बंसी अब चिढ़कर किसी को गाली नहीं देता, न मारने चलता है, वह केवल मुस्करा देता है। वह मुस्किराहट विचित्र- सी है। उसमें वेदना और उन्माद, दोनो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

बंसी की विनय और सहृदयता वैसी ही है। वह ठीक समय पर काम भी सब करता है, पर उससे भूलें बहुत होती हैं। वह अब उतना बुद्धिमान, कुशाग्र-बुद्धि नहीं रह गया।

सुहागी कौन है, कहाँ रहती है, यह जानने की बंसी ने कभी चेष्टा नहीं की। एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—"बंसी, एक बात सुनोगे ?"

"क्या बात ?"

"वही सुहागी की बात।"

बंसी मुस्किराकर चुप हो गया।

"सुनोगे ?" मित्र फिर कहा।

"कहो।"

"उसका ब्याह कब हो रहा है।"

"ब्याह ?"

"हाँ।"

"किसका ?"

"सुहागी का।"

"हुश !" बंसी ने मुस्किराकर मुँह फेर लिया।

मित्र ने फिर कहा—

"क्या विश्वास नहीं ?"

"होगा।" बंसी का स्वर धीमा पड़ गया, जैसे मरते हुए आदमी का हो जाता है।

मित्र ने कहा—"बारात आई है। दूल्हा देखोगे ?"

"ना।"

"क्या हानि है?"

"ना।"

"सुहागी को देखोगे?"

"ना।"

"एक बार देख न लो?"

"ना।"

मित्र चला गया।

(४)

छ वर्ष बीत गये। बंसी की हालत में कुछ भी सुधार नहीं हुआ। सुहागी का ब्याह हो गया। वह दो बच्चों की मा है। बंसी की लगन उससे छिपी नहीं। उसकी सहेलियां उसे पहले बंसी की बात कहकर चिढ़ाती थीं। वह उन्हें गाली देती और गुस्सा होती थी। अब वह सिर्फ़ जरा हँस-भर देती है। वह बंसी के विषय में किसी से कुछ नहीं पूछती, पर सदैव बंसी के विषय में कुछ-न-कुछ जानने को आतुर रहती है। उसकी वह आतुरता अत्यंत गोपनीय है।

वह एक वर्ष बाद फिर लाहौर आई। उसकी सहेलियों ने बंसी के हालत बताए। सुहागी ने एक बार साहस करके अपनी अन्तरंग सखी बुंदन से कहा—"बुंदन, चल, जरा उस तेरे बंसी को देखूँ तो कैसा है।"

"देखोगी? पर अब वह पहले-सा छैल नहीं है।"

"देखूँगी तो भी।"

"कपड़ा ख़रीदना पड़ेगा।"

"ख़रीदूँगी।"

"और जो वह उसी तरह........"

"चाहे जो हो, देखूँगी जरूर···"

तीन-चार सखी चलीं---इठलाती, ठठोली मारती। सुहागी ने बढ़िया चोली कसी, ज़री-काम का सलवार पहना, गोटे की ओढ़नी ओढ़ी। सब गहने सजे। वह सखियों के साथ बंसी को देखने चली। सब हँसती थीं, वह भी हँसती थी। सब कहतीं, वह काठ का उल्लू है। सुहागी भी उनके स्वर में स्वर मिलाती थी।

अनारकली में सब उसकी दूकान के सामने आ खड़ी हुईं। सुबह का वक्त था। बंसी वहां अकेला ही बैठा था। उसने सुहागी को न पहचाना। वह अब अल्हड़ बालिका न थी, दो बच्चों की माता थी। वह अब कुमारी न थी, युवती थी।

कुंदन ने आगे बढ़कर कहा---"पहचानते हो ?"

बंसी ने अकचकाकर कहा—"किसे ?"

"सुहागी को।"

"सुहागी को ? कौन है सुहागी ?"

कनक ने मुस्किराकर, उँगली के संकेत से बता कर कहा---"वह सुहागी है।"

"वह।" बंसी की मानो श्वास रुक चली।

कनक ने प्रगल्भता से कहा---"सदा सुहागी-सुहागी बका करते हो, दे दो न यह थान उठाकर उसे।"

बंसी ने सामने पड़ा हुआ मखमल का थान उठाकर सुहागी के आगे धर दिया।

कनक ने कहा—"बस, एक ही थान ?"

बंसी ने थानों के ढेर लगा दिए।

सुहागी बोली नहीं, हँसी भी नहीं। वह चुपचाप वहां से चल दी। थान उसने छुए भी नहीं। बंसी मंत्रबद्ध सर्प की

भाँति पीछे-पीछे चल दिया। नगर के गली-बाज़ार-समाप्त हो गए। रावी का किनारा आ गया। सामने रावी का गहरा जल उछलता हुआ जा रहा था।

कनक ने पीछे फिरकर कहा—"हमारे पीछे क्यों लगे हो? जाओ अपना रास्ता देखो।"

बंसी ने सूखे कंठ से सुहागी की ओर देखकर कहा— "यह कहे, तो लौट जाऊँ।"

"वह कहे, तो रावी में कूद पड़ोगे?"

"वह कहे, तो"

हठात् सुहागी की ज़बान खुली, उसने कहा—"कूद पड़ो।"

उसी क्षण बंसी अगम जल में था, और दूसरे क्षण सुहागी भी? दोनों प्रेम-जल-समाधि में लीन थे!!

पंजाब की युवतियाँ रावी के तट पर जब जाती हैं, दोनों प्रेमियों के गीत गाती हैं। कदाचित् दोनों की आत्मायें जल-गर्भ से उन्हें सुन-सुनकर प्रसन्न होती हैं।